

वर्ष 13, अंक 2,

जुलाई-सितम्बर 2001 ई.



400

चन्द्रगुप्त मौर्य

भारत

CHANDRAGUPTA MAURYA INDIA

2001

दिग्विजयी जैन-सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य

(भारत-सरकार के संचार-मंत्रालय द्वारा हाल ही में जारी डाक-टिकट का चित्र)

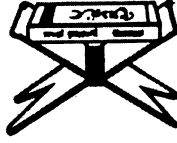
आवरण पृष्ठ के बारे में

आवरण-पृष्ठ पर मुद्रित चित्र 21 जुलाई 2001 को कानपुर (उ०प्र०) में केन्द्र-सरकार द्वारा जारी किये गये डाक-टिकिट का है। इस टिकिट को तत्कालीन संचारमंत्री श्री रामविलास पासवान ने जारी किया था। चार रुपये मूल्य के इस नयनाभिराम डाकटिकिट का परिचय देते हुए नई दिल्ली से प्रकाशित 'हिन्दुस्तान' (दैनिक) के 19 जुलाई के संस्करण (पृष्ठ 7) पर लिखा है कि "डाक-विभाग इतिहास की महत्वपूर्ण हस्ती चन्द्रगुप्त मौर्य पर 4 रुपये का डाकटिकिट निकालने जा रहा है। ...चन्द्रगुप्त मौर्य का शासन 25 वर्ष तक चला। जैन-परम्परा में माना जाता है कि भद्रबाहु से प्रेरित होकर उन्होंने जैनधर्म स्वीकार कर लिया था। उसने न केवल अपने साम्राज्य की सीमा बढ़ायी, बल्कि सशक्त प्रशासन-प्रणाली कायम की और राज्य की आर्थिक नींव मजबूत की।"

व्यक्तिगतरूप से सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य धार्मिक भी था और साधु-सन्तों का विशेष आदर करता था। जैन अनुश्रुतियों में उसे सर्वत्र शुद्ध क्षत्रिय-कुलोत्पन्न कहा है। ईसवी सन् की प्रारम्भिक शताब्दियों के प्राचीन सिद्धान्त-शास्त्र 'तिलोपपण्णति' में चन्द्रगुप्त को उन 'मुकुटबद्ध माण्डलिक-सम्राटों में अन्तिम' कहा गया है, जिन्होंने दीक्षा लेकर अन्तिम-जीवन जैनमुनि के रूप में व्यतीत किया था। वह आचार्य भद्रबाहु-श्रुतकेवली की आमनाय का उपासक था, और उनका ही पदानुसरण करने का अभिलाषी था। अतएव लगभग पच्चीस वर्ष राज्यभोग करने के उपरान्त ईसापूर्व 298 में पुत्र बिन्दुसार को राज्यभार सौंपकर और उसे गुरु चाणक्य के ही अभिभावकत्व में छोड़ दक्षिण की ओर प्रयाण कर गया। मार्ग में सौराष्ट्र प्रान्त के गिरिनगर (गिरनार) की जिस गुफा में उसने कुछ दिन निवास किया, वह तभी से 'चन्द्रगुफा' कहलाने लगी। ध्यातव्य है इसी 'चन्द्रगुफा' में धरसेनाचार्य ने पुष्पदन्त एवं भूतबली नामक मुनिद्वय को अवशिष्ट श्रुतज्ञान का उपदेश दिया था।

वहाँ से चलकर यह राजर्षि कर्णाटकदेशस्थ 'श्रवणबेलगोल' पहुँचा, जहाँ आचार्य भद्रबाहु दिवंगत हुए। उस स्थान के एक पर्वत पर मुनिराज चन्द्रगुप्त (दीक्षेपरांत नाम 'विशाखाचार्य') ने तपस्या की और वहीं कुछ वर्ष उपरान्त सल्लेखनापूर्वक देहत्याग किया। उनकी स्मृति में ही वह पर्वत 'चन्द्रगिरि' नाम से प्रसिद्ध हुआ। उसकी जिस गुफा में उन्होंने समाधिमरण किया था, उसमें उनके चरण-चिह्न बने हैं और वह स्थान 'चन्द्रगुप्त-बसति' के नाम से प्रसिद्ध है।

मूलसंधी-मुनियों का 'चन्द्रगुप्तगच्छ' या 'चन्द्रगच्छ' इन्हीं चन्द्रगुप्ताचार्य (विशाखाचार्य) के नाम पर स्थापित हुआ माना जाता है। इस महान् जैन-सम्राट् के समय में ही भारतवर्ष प्रथमबार तथा अन्तिमबार अपनी राजनीतिक-पूर्णता एवं साम्राज्यिक-एकता को प्राप्त हुआ और मगध- साम्राज्य के रूप में भारतीय-साम्राज्य अपने चरमोत्कर्ष को पहुँचा था।



॥ जयदु सुद-देवदा ॥

प्राकृत-विद्या
पागद-विज्जा

PRAKRIT-VIDYA
Pagad-Vijja

शौरसेनी, प्राकृत एवं सांस्कृतिक मूल्यों की त्रैमासिकी शोध-पत्रिका
The quarterly Research Journal of Shaurseni, Prakrit & Cultural Values

वीरसंवत् 2527 जुलाई-सितम्बर '2001 ई० वर्ष 13 अंक 2
Veersamvat 2527 July-September '2001 Year 13 Issue 2

आचार्य कुन्दकुन्द समाधि-संवत् 2013

मानद प्रधान सम्पादक

प्रो० (डॉ०) राजाराम जैन

निदेशक, कुन्दकुन्द भारती जैन शोध संस्थान

Hon. Chief Editor

PROF. (DR.) RAJA RAM JAIN

Director, K.K.B. Jain Research Institute

मानद सम्पादक Hon. Editor

डॉ० सुदीप जैन

एम.ए. (प्राकृत), पी-एच.डी.

DR. SUDEEP JAIN

M.A. (Prakrit), Ph.D.

प्रकाशक

श्री सुरेश चन्द्र जैन

मंत्री

श्री कुन्दकुन्द भारती ट्रस्ट

Publisher

SURESH CHANDRA JAIN

Secretary

Shri Kundkund Bharti Trust

★ वार्षिक सदस्यता शुल्क - पचास रुपये (भारत) 6.0 \$ (डालर) भारत के बाहर
★ एक अंक - पन्द्रह रुपये (भारत) 1.5 \$ (डालर) भारत के बाहर

डॉ० देवेन्द्र कुमार शास्त्री

प्रो० (डॉ०) प्रेमसुमन जैन

डॉ० उदयचन्द्र जैन

डॉ० जयकुमार उपाध्ये

प्रो० (डॉ०) शशिप्रभा जैन

प्रबन्ध सम्पादक

डॉ० वीरसागर जैन

श्री कुन्दकुन्द भारती (प्राकृत भवन)
18-बी, स्पेशल इन्स्टीट्यूशनल एरिया,
नई दिल्ली-110067
फोन (011) 6564510
फैक्स (011) 6856286

Kundkund Bharti (Prakrit Bhawan)
18-B, Spl. Institutional Area
New Delhi-110067
Phone (91-11) 6564510
Fax (91-11) 6856286

‘आम्नाय’ का वैशिष्ट्य

“वाचना-पृच्छनानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशाः ।”

अर्थात् वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश —ये पाँच स्वाध्याय के अंग हैं।

“अष्टस्थानोच्चारविशेषण यच्छुद्धं घोषणं पुनः पुनः परिवर्तनं स आम्नायः कथ्यते ।”

—(आ० श्रुतसागर सूरि, तत्त्वार्थवृत्ति, नवम अध्याय, 25)

कण्ठ, तालु आदि आठ उच्चारण-स्थानों की विशेषता से जो शुद्ध घोषण/उच्चारण बारम्बार परिवर्तनपूर्वक किया जाता है, उसे ‘आम्नाय’ कहते हैं। **

“उन्होंने (आचार्य कुन्दकुन्द ने) अनेक ग्रन्थों का निर्माण किया, जो सबके सब ‘शौरसेनी प्राकृत’ में हैं।”

—करुणापति त्रिपाठी

पूर्वकुलपति, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी
(आचार्य कुन्दकुन्द और उनका समयसार, प्रस्तावना, पृष्ठ 2)

**

धन-कन-कंचन-राजसुख, सबहि सुलभ कर जान।

दुर्लभ है संसार में, एक यथार्थ ज्ञान॥

**

कातन्त्रव्याकरणम्

‘कातन्त्रं हि व्याकरणं पाणिनीयेतरव्याकरणेषु प्राचीनतमम् । अस्य प्रणेतृविषयेऽपि विपश्चितां नैकमत्यम् । एवमेव कालविषये नामविषये च युधिष्ठिरो हि कातन्त्रप्रवर्तनकालो विक्रमपूर्वं तृतीय-सहस्राब्दीति मन्यते ।’

—(लिखक : लोकमणिदाहलः, व्याकरणशास्त्रेतिहासः, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ 260)

**

अनुक्रम

क्र.	शीर्षक	लेखक	पृष्ठ सं०
01.	मंगलाचरण : कुंदकुंद-वचनमृत	मिश्रीलाल जैन एडवोकेट	4
02.	सम्पादकीय :	डॉ० सुदीप जैन	5
03.	'समयपाहुड' बदलने का दुःसाहस पूर्ण उपक्रम	डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री	9
04.	दक्षिण भारत में सम्राट् चन्द्रगुप्त से पूर्व भी जैनधर्म का प्रचार-प्रसार था	डॉ० सुदीप जैन	17
05.	'छक्खंडागमसुत्' की 'धवला' टीका के प्रथम पुस्तक के अनेकार्थ-शब्द	डॉ० उदयचन्द्र जैन	27
06.	भारतीय संस्कृति को तीर्थंकर ऋषभदेव की देन	पद्मभूषण आचार्य बलदेव उपाध्याय	32
07.	आत्मजयी महावीर	आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी	36
08.	भारतीय संस्कृति में गाय	डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल	39
09.	मांसाहार : एक समीक्षा	आचार्य महाप्रज्ञ	42
10.	प्राकृत-ग्रंथों में जिन-साधुओं का निवास और विहार-चर्या का स्वरूप	डॉ० राजेन्द्र कुमार बंसल	46
11.	'ब्राह्मी' लिपि और जैन-परम्परा	डॉ० रवीन्द्र कुमार वशिष्ठ	52
12.	लिपिशालासंदर्शनपरिवर्तो दशमः		56
13.	श्रवणबेलगोला के अभिलेखों में वर्णित बैकिंग प्रणाली	श्री बिशनस्वरूप रुस्तगी	59
14.	जैनधर्म का तत्त्व-चिन्तन : ग्रीक-दार्शनिक 'प्रो० हाजिमे नाकामुरा' की दृष्टि में	प्रो० प्रेमसुमन जैन	64
15.	ओंकार महामंत्र और उसका प्रभाव	आचार्य राजकुमार जैन	70
16.	श्री सम्मेदशिखर अष्टक	विद्यावारिधि डॉ० महेन्द्र सागर प्रचंडिया	74
17.	शब्द-स्वरूप एवं ध्वनि-विज्ञान	डॉ० माया जैन	75
18.	शाकाहारियों के लिये ब्रिटेन में बीमा सस्ता होगा		79
19.	रावण नहीं फूँका जायेगा अब दशहरें पर	सुरेशचन्द्र सिन्हा	81
20.	गधों से गधे की तरह काम लेने पर रोक : 8 घंटे की ड्यूटी तय		83
21.	जैन आगम-साहित्य में प्रतिपादित श्रमणों के मूलगुण	डॉ० जिनेन्द्र जैन	85
22.	विदिशा के बड़े जैन मन्दिर के कुछ मूर्ति-लेख	कुन्दन लाल जैन	91
23.	यूनीकोड ने देवनागरी के 'हलन्त' को विराम' बना दिया	विनोद वार्ष्णेयी	93
24.	खण्डहरों का वैभव	डॉ० रमेशचंद्र जैन	95
25.	पुस्तक-समीक्षा		97
26.	अभिमत		101
27.	समाचार-दर्शन		107

कुंदकुंद-वचनामृत

—पद्यानुवाद : मिश्रीलाल जैन एडवोकेट, सिवनी

कादूण णमोक्कारं जिणवरवसहस्स वड्ढमाणस्स ।
दंसणमगगं वोच्छामी जहाकम्मं समासेण ॥ 1 ॥

ऋषभ से महावीर तक, तीर्थकरों की शृंखला है ।
संसृति को दिव्यध्वनि में, दे गए अनुपम-कला है ॥
कर नमन उनके चरण में, समय कागज पर लिखा है ।
महकता प्रज्ञा-सुमन, उनकी किरण पाकर जगा है ॥

दंसणभट्टा भट्टा दंसणभट्टस्स णत्थि णिव्वाणं ।
सिज्जंति चरियभट्टा दंसणभट्टा ण सिज्जंति ॥ 2 ॥

भ्रष्ट दर्शन से हुए निर्वाण उनकी कल्पना है ।
बीज के बिना वृक्ष, जननी बिना सूत किसने जना है ॥
स्खलित चारित्र-दर्शन-युक्त, मुक्ति-वरण की सम्भावना है ।
दिव्यध्वनि के रहस्य-साधक ! प्रथम तुमको जानना है ॥

जिणवयणमोसहमिणं विसयसुहविरेयणं अमिदभूदं ।
जर-मरण-वाहिहरणं खयकरणं सव्वदुक्खाणं ॥ 3 ॥

विषय-वासना की व्याधि को, दिव्य-ध्वनि औषधि है ।
शाश्वत-सुख उपलब्ध कराती, जरा-मृत्यु की इति है ॥
कर्म-कलुष सारे धुल जाते, आत्मा निर्मल होती ।
दर्शन-ज्ञान-चरित्र के तट, मिलते मुक्ति के मोती ॥ ❖❖

अहिंसा के अवतार - पंचपरमेष्ठी

—डॉ० सुदीप जैन

श्रमण-परम्परा के मूलसंघ का आदिग्रन्थ 'छक्खंडागमसुत्त' है। इसके मंगलाचरण के रूप में पंचपरमेष्ठी को शौरसेनीप्राकृतभाषानिबद्ध निम्नलिखित गाथासूत्र में नमस्कार किया गया है—

“णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं णमो आइरियाणं।

णमो उवज्झायाणं, णमो लोगे सव्व-साहूणं।।”

अर्थ :— अरिहंतों को नमस्कार, सिद्धों को नमस्कार, आचार्यों को नमस्कार, उपाध्यायों को नमस्कार एवं लोक के समस्त साधुओं को नमस्कार हो।

इसमें अंतिम चरण में आगत 'लोगे सव्व' पद 'अन्त्यदीपक' हैं, अर्थात् इनका प्रयोग प्रत्येक के साथ समझना चाहिए। उदाहरणस्वरूप 'लोक के सभी अरिहंतों को नमस्कार हो, लोक के सभी सिद्धों को नमस्कार हो.....' —इत्यादि।

उपर्युक्त गाथासूत्र-बद्ध मंगलाचरण को जैन-परम्परा में 'णमोकार महामंत्र' के नाम से जाना जाता है, तथा व्यक्ति-विशेष से सम्बद्ध न होने से तथा अरिहंतादि पूज्यपदों की परम्परा अनादि-अनिधन स्वीकृत होने से इस महामंत्र को अनादि-अनिधन माना गया है।

प्रथम-प्रयोग की दृष्टि यद्यपि इस महामंत्र की प्रथम दो पंक्तियाँ किञ्चित्परिवर्तित रूप में सम्राट् खारवेल के ईसापूर्व द्वितीय शताब्दी के ऐतिहासिक हाथीगुम्फा-शिलालेख के प्रारंभ में निम्नानुसार पायी जाती हैं :— “णमो अरिहंतानं, णमो सवसिधानं”

इनमें ओड्रमागधी प्राकृत के प्रभाव से आदि-‘णकार’ यथावत् रहा है, किन्तु अन्त्य-‘णकार’ का ‘नकार’ हो गया है।

अस्तु, इसका प्राचीनतम परिपूर्ण लिखितरूप 'छक्खंडागमसुत्त' के मंगलाचरण का है, जो कि विशुद्ध शौरसेनीप्राकृत में निबद्ध है।

इस महामंत्र में जिन पंच-परमेष्ठियों को नमस्कार किया गया है, उसका अचिन्त्य-प्रभाव बताया गया है—

“एसो पंच णमोक्कारो सव्व पावप्पणासणो ।

मंगलाणं च सव्वेसिं पढमं होदि मंगलं ।।”

अर्थ :— यह पंच नमस्कार (पंचपरमेष्ठियों को ‘णमोकार मंत्र’ में किया गया नमस्कार) सभी पापों को नाश करनेवाला है तथा सभी मंगलों में प्रथम मंगल है ।

इस ‘णमोकार मंत्र’ में नमस्कृत पंचपरमेष्ठी ‘अहिंसा के अवतार’ के रूप में ‘छक्खंडागमसुत्त’ के रचयिता आचार्य भूतबलि के द्वारा प्ररूपित किये गये हैं—

“साहूवज्जायरिए अरिहंते वंदिदूण सिद्धे वि ।

जो पंच-लोगवाले वोंच्छं बंधस्स सामित्तं ।।”

—(बंधसामित्तविचय, मंगलाचरण)

अर्थ :— भावलिगी साधु, उपाध्याय, आचार्य, अरिहंत और सिद्ध परमेष्ठी —इन पाँच लोकपालों (लोक का पालन, रक्षण करनेवालों) की वंदना करके मैं बंधस्वामित्व के विषय का वर्णन करते हैं ।

चूँकि पंचपरमेष्ठियों में सबसे कनिष्ठ ‘साधु परमेष्ठी’ भी ‘अहिंसामहाव्रत’ के धनी होते हैं, समस्त त्रस और स्थावर जीवों की रक्षा करते हैं (अर्थात् उनके द्वारा कृत-कारित-अनुमोदना से किसी भी प्रकार के जीव का घात नहीं होता है); तब शेष चारों पद तो इनसे भी उच्चपद हैं; उनसे तो जीवघात का कार्य संभव ही नहीं है; इसीकारण से ये पंचपरमेष्ठी अहिंसा के अवतार होने के कारण ‘लोकपाल’ कहे जाते हैं ।

वे ‘मेंत्ती मे सव्वभूदेसु’ की भावना से ओतप्रोत होकर प्राणीमात्र का हिंतचिंतन करनेवाले एवं मित्र के समान रक्षक/शुभचिंतक होते हैं ।

‘गद्यचिंतामणि’ के मंगलाचरण में आचार्यदेव लिखते हैं—

“त्रिलोकरक्षानिरतो जिनेश्वरः ।”

अर्थात् जिनेश्वर भगवान् तीनों लोकों की रक्षा करने में निरत रहते हैं ।

वस्तुतः वीतरागी होने से ही उनके निमित्त से किसी को पीड़ा नहीं हो पाती है, क्योंकि परपीड़ा का कारण राग-द्वेष है । तथा परपीड़ाकारक भावों का लेश भी शेष नहीं रहने से उन्हें ‘त्रिलोकरक्षा में निरत’ विशेषण से विभूषित किया गया है । साथ ही उनके पावन-स्मरण से भी जीव पापभावों से बच जाते हैं, इसप्रकार पापों से जीवों की रक्षा करने के निमित्त होने के कारण भी उनकी यह संज्ञा सार्थक है ।

इस ‘णमोकार मंत्र’ को ‘जिनशासन का सार’ भी कहा गया है—

“जिणसासणस्स सारो चोद्दस-पुव्वाण जो समुद्धारो ।

जस्स मणे णमोक्कारो संसारो तस्स किं कुणदि? ।।”

—(आ० वसुनंदि, तत्त्व विचार, 1/28, पृ० 171)

अर्थ :— यह पंचनमस्कार-महामंत्र जिनशासन का सार है और चौदहपूर्व-परमागम

का सम्यक् उद्धाररूप है। ऐसा महामंत्र 'णमोकार' जिसके हृदय में स्थित है, संसार उसका क्या बिगाड़ सकता है? अर्थात् कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता है।

वे इसी तथ्य की पुष्टि करते हुए आगे लिखते हैं—

“एसो वि णमोक्कारो जेण कदो भत्तिणिब्भरमणेण ।

खविदूण कम्मरासी पत्ता मोक्खफलं ते वि ।।” —(वही, 1/7)

अर्थ :— जो भव्यजीव भक्ति से आपूरित हृदय से पंचपरमेष्ठी को नमस्कार करते हैं, वे कर्मराशि का क्षय करके मोक्षरूपी फल को प्राप्त करते हैं।

वस्तुतः सम्यग्दर्शन की प्राप्ति से लेकर मोक्षावस्था पाने तक पंचपरमेष्ठियों को ही मुख्य बाह्य-निमित्तकारण प्ररूपित किया गया है। अतएव पंचपरमेष्ठियों को भक्तिपूर्वक नमस्कार का कर्मक्षयहेतुत्व-प्ररूपण युक्तिसंगत है।

इन पंच-परमेष्ठियों का चिंतन 'व्यवहार धर्मध्यान' के रूप में करने की प्रेरणा 'द्रव्यसंग्रह' में आचार्य ने नेमिचंद्र सिद्धातिदेव ने भलीभाँति की है। वे लिखते हैं—

“पणतीस-सोल-छप्पण-चदु-दुगमेगं च जवह झाएह ।

परमेट्ठि-वाचयाणं अण्णं च गुरूवदेसेण ।।”

अर्थ :— पंच-परमेष्ठियों के वाचक पैतीस अक्षरोंवाले (उपर्युक्त पूर्ण णमोकार-मंत्र), सोलह अक्षरोंवाले (अरिहंत-सिद्ध-आचार्य-उपाध्याय-साधु), छह अक्षरोंवाले (अरिहंत-सिद्ध) पाँच अक्षरोंवाले (अ-सि-आ-उ-सा), चार अक्षरोंवाले (अरिहंत), दो अक्षरोंवाले (सिद्ध), एकाक्षरी (ॐ) पदों को जपो और ध्यान करो। यह 'पदस्थ धर्मध्यान' है।

इसे 'निश्चयधर्मध्यान की प्राप्ति का हेतु' कहा गया है। इसका अवलम्बन लेकर जीव आत्मरक्षित हो जाते हैं, इसीलिए पंचपरमेष्ठी को 'त्रिलोकरक्षक' जैसी संज्ञा दी गयी है।

पंचपरमेष्ठियों के प्रति भक्ति-बहुमान को अभिव्यक्त करने के लिए अनेकों साधन अपनाये जाते थे। उदाहरणस्वरूप, दीवाल में एक साथ पंचपरमेष्ठियों की प्रतिमायें स्थापित की जाती थीं, इन्हें 'भित्तिकर्म' कहा गया है। आचार्य वीरसेन स्वामी लिखते हैं—

“कुड्डेसु अभेदघडिद-पंचलोकपाल-पडिमाओ भित्तिकम्माणि णाम ।”

—(धवला, वग्गणाखंड, भाग 13, पृष्ठ 202)

अर्थ :— दीवाल में अभिन्नरूप से (निरन्तर) बनायी गई पंचलोकपालों (पंचपरमेष्ठियों) की प्रतिमायें 'भित्तिकर्म' है।

धर्मध्यान के लिए अनेकों साधन आचार्यों ने प्ररूपित किये हैं—

“चिंततो ससरूवं जिणबिंबं अहवा अक्खरं परमं ।”

—(स्वामी कार्तिकेय, कर्त्तियोगानुवैक्खा, 4)

अर्थ :— आत्मस्वरूप का चिंतन करना, जिनेन्द्र परमात्मा के बिंब पर उपयोग एकाग्र करना अथवा परमपदवाची अक्षर अविनाशी (ॐकार या णमोकार) का चिंतन, ध्यान

करना चाहिये।

जैनाचार्यों ने अन्त्य तीन परमेष्ठियों को 'श्रमण' संज्ञा प्रयुक्त की है—

“श्रमण-शब्द वाच्यानाचार्योपाध्याय साधूश्च ।”

—(आचार्य जयसेन, पवयणसार, गाथा 2 की टीका)

तथा प्रथम दो परमेष्ठियों को 'जिन' कहा गया है—

“आचाराणां विघातेन कुट्टष्टिनां च सम्पदाम् ।

धर्मगलानिं परिप्राप्तमुच्छ्रियन्ते जिनोत्तमा ।।”

—(आचार्य रविषेण-पद्मपुराण)

इन पाँचों परमेष्ठियों का स्वरूप अहिंसामय एवं अहिंसाप्रभावक होने से इन्हें ही मंगलस्वरूप, लोकोत्तम एवं एकमात्र शरणभूत भी 'चत्तारिदंडक' में कहा गया है।

ये साक्षात्धर्मस्वरूप हैं, और धर्म अहिंसामय कहा गया है—

“धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो ।

देवा वि तं पणमंति, जस्स धम्मे सया मणो ।।”

—(क्रियाकलाप, पृष्ठ 260)

अर्थ :— धर्म मंगलमय और उत्कृष्ट है, वह अहिंसारूप, संयममय एवं तपःप्रधान है। ऐसा धर्म जिसके मन में होता है, उसे देवता भी प्रणाम करते हैं।

अहिंसाप्रभावक 'णमोकार महामंत्र' की अचिन्त्य महिमा एवं प्रभाव के कारण ही जैन-आम्नाय में बालक को जन्म, नामकरण आदि प्रसंगों पर उसे 'णमोकार मंत्र' सुनाते हैं। शिक्षा-ग्रहण के प्रसंग में भी उससे सर्वप्रथम 'णमोकार महामंत्र' का ही उच्चारण कराते हैं। जीवनभर शमन से पूर्व एवं जागने के बाद सर्वप्रथम इसी मंत्र का जाप करने का विधान है तथा मरण के समय भी 'णमोकार मंत्र' सुनकर देह छोड़ने को आदर्श बताया गया है।

इसप्रकार शौरसेनीप्राकृतभाषानिबद्ध पंच-परमेष्ठी नमस्कारपरक इस 'णमोकार महामंत्र' से जन्म से लेकर देहत्याग-पर्यन्त जहाँ हम पंचपरमेष्ठी की भक्ति-अनुराग से अहिंसक संस्कार प्राप्त करते हैं, वहीं शौरसेनी प्राकृत का प्रयोग भी हम अपने जीवन में इसके माध्यम से जीवंत रखते हैं। ❖❖

बौद्धधर्म में आहारशुद्धि

मद्यं मांसं मलांडुंच न भक्षयेयं महामते !

बोधिसत्त्वैर्महासत्त्वैर्मावादिवर्जिनपुंगवैः ।

—(लंकावतारसूत्र, 1922 ई०)

अर्थ :— हेमहामते! बौद्धमती, महाबौद्धमती, किसी को भी मांस, मदिरा, प्याज आदि नहीं खाना चाहिए, —ऐसा जिनेन्द्रों ने कहा है।

**

‘समयपाहुड’ बदलने का दुःसाहस पूर्ण उपक्रम

—डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री

‘ज्ञान’ को मोक्षसाधन प्रतिपादित किया गया है, किंतु आधा-अधूरा ज्ञान किस तरह से स्व-पर-विघात की परिणति को प्रस्तुत करता है —यह तथ्य सम्प्रति ‘वीरसेवामंदिर’ से प्रकाशित ‘समयपाहुड’ के संस्करण में भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है। विद्वान्-लेखक डॉ० देवेन्द्र कुमार जी शास्त्री ने इस विषय में व्यापक प्रमाणों के साथ दो टूक शब्दों में समस्त भ्रामक-अवधारणाओं का निराकरण किया है। यह आलेख यद्यपि एक-दो मासिक-पाक्षिक पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुका है; किंतु लेखक ने सर्वप्रथम यह ‘प्राकृतविद्या’ में प्रकाशनार्थ भेजा था और त्रैमासिकी होने के कारण इसका प्रकाशन-क्रम अपेक्षाकृत परवर्ती रहा। फिर भी लेखक की मूलभावना एवं लेख का विषय — इन दोनों दृष्टियों से यह आलेख जिज्ञासु पाठकों के मननार्थ यहाँ प्रस्तुत है।

—सम्पादक

ईसापूर्व प्रथम-शताब्दी के आचार्य कुन्दकुन्द ने केवली तथा श्रुतकेवली-कथित जिनागम को पाहुडों (साक्षात् तीर्थकर की वाणी) के रूप में निबद्धकर श्रुतधराचार्य का महान् कार्य किया था। कुछ समय पूर्व ‘वीर सेवा मन्दिर’, नई दिल्ली से ‘समयपाहुड’ का एक संस्करण प्रकाशित हुआ है। इसके आमुख में श्री रूपचन्द कटारिया ने आचार्य कुन्दकुन्द और आचार्य अमृतचन्द्र का यह कहकर विरोध किया है कि ‘वे आगम से स्वलित हुए हैं।’ उनके शब्दों में— “ऐसा प्रतीत होता है कि मूल-गाथाओं की छाया किसी अन्य विद्वान् के द्वारा की गई जिसके आधार पर श्री अमृतचन्द्राचार्य ने ‘आत्मख्याति’ नामक टीका लिखी। इसप्रकार संस्कृत-छाया के आधार पर टीका होने से अनेक-स्थलों पर मूलगाथा के अभिप्रायार्थ से स्वलन हो गया लगता है। यद्यपि श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने स्वयं इस ‘समयपाहुड’ को श्रुतकेवली-भणित कहा है; तथापि आगम के पूर्वापर का विरोध होने से पश्चाद्वर्ती टीकाकारों को कुन्दकुन्दाचार्य को सीमंधर-स्वामी के समवसरण में जाकर परम्परित-ज्ञान से अन्य अध्यात्मज्ञान प्राप्त करने की बात कहनी पड़ी।”¹

लेखक के उक्त तिरस्कारपूर्ण-लेखन से अहंभाव के प्रदर्शन की झलक मिलती है। उनके लिखने से ऐसा लगता है कि वर्तमान कलिकाल में वे ऐसे सर्वज्ञ हैं, जिनको सब पता है कि आचार्यों ने कहाँ पर और क्या गलतियाँ की हैं। यह ‘समयपाहुड’ आचार्य कुन्दकुन्द की भूल

ठीक करने का एक महान् उपक्रम है। लेखक ने इस बात की पुष्टि करते हुए लिखा है—

“समयपाहुड की किसी भी गाथा में तथा कुन्दकुन्दाचार्य की किसी भी कृति में ‘व्यवहार’ को ‘असत्यार्थ’ नहीं कहा गया है और उस नय को ‘जिनोपदिष्ट’ बतलाया गया है। इससे प्रतिफलित होता है कि व्यवहारनय ‘जिनोपदिष्ट’ है और भगवान् जिनन्द्रदेव के द्वारा कथित होने से सत्यार्थ है।”²

इसप्रकार के काल्पनिक-निष्कर्षों तथा मनगढ़न्त-ऊहापोह से भरित इस पुस्तक के लेखन तथा प्रकाशन में व्यर्थ ही समय, श्रम तथा धन का अपव्यय किया गया है। क्योंकि इस पुस्तक का मूल-प्रयोजन ‘ववहारोऽभूदत्थो’ या ‘ववहारो अभूदत्थो’ के स्थान पर ‘ववहारो भूदत्थो’ पाठ बदलना है। उसकी वकालत करते हुए श्री कटारिया जी ने लिखा है—“यहाँ विचारणीय यह है कि उक्त गाथा की जो संस्कृत-छाया की गई है, उसमें ‘भूदत्थो’ को ‘अभूदत्थो’ कैसे कर दिया गया? और अमृतचन्द्र जैसे मेधावी आचार्य ने उसे स्वीकार करते हुए तदनुसार ही अपनी टीका में उसके अर्थ को कैसे अभिव्यक्त किया? जिससे अर्थ का अनर्थ हो गया और इसप्रकार विपरीतार्थ हो जाने पर परवर्ती-समय में व्रत, तप, समिति, गुप्ति आदि को व्यवहार मानकर महत्त्वहीन कर दिया गया, जिससे हमारे चारित्र पर प्रबल कुठाराघात हुआ है।”³

इससे स्पष्ट है कि लेखक को ‘व्यवहारनय’ और ‘निश्चयनय’ के विषय में बड़ा भ्रम है। ‘व्यवहार’ शब्द ‘वि+अव+हृ हरणे’ धातु से निष्पन्न हुआ है। ‘व्यवहारनय’ जो वस्तु जैसी है, उसका लोपकर या अन्य को मिलाकर उसे उस रूप कहता है। इसलिये आचार्य कुन्दकुन्द और आचार्य अमृतचन्द्र यह कहते हैं कि समस्त व्यवहारनय अभूतार्थ होने से अभूत (जो विद्यमान नहीं है) अर्थ (पदार्थ) को प्रकट करता है, और केवल शुद्धनय ही भूतार्थ होने के कारण सहज, सत्यभूत (जैसी वस्तु है) पदार्थ को कहता है।

व्यवहारनय का अनुसरण क्यों नहीं करना चाहिए? इस प्रश्न के उत्तर में आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं—

ववहारो अभूदत्थो भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ ।

भूदत्थमस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी हवदि जीवो ॥ 11 ॥

उक्त गाथा प्राचीनतम ताड़पत्रीय, हस्तलिखित एवं सर्वप्रथम कारंजा से प्रकाशित ‘समयसार’ के आधार पर लिखी गई है। इस गाथा का भावार्थ लिखते हुए श्री सहजानन्द जी वर्णी ‘समयसार’ की ‘सप्तदशांगी’ टीका में कहते हैं—

भावार्थ :— “यहाँ व्यवहारनय को ‘अभूतार्थ’ और ‘शुद्धनय’ को भूतार्थ कहा है। जो सहज अस्तित्वमय है, उसे ‘भूतार्थ’ कहते हैं और जो सहज नहीं है, किन्तु औपाधिक है, उसे अभूतार्थ कहते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि शुद्धनय का विषय सहज अभेद एकाकाररूप नित्य-द्रव्य है, इसकी दृष्टि में भेद नहीं दीखता। इसलिये इसकी दृष्टि में वह अभूतार्थ

अविद्यमान-असत्यार्थ ही कहना चाहिये।” —(पृष्ठ 30)

यदि कटारिया जी वर्णी जी के लिखे हुए सम्पूर्ण भावार्थ को भलीभाँति समझ लेते, तो फिर पुस्तक लिखने की आवश्यकता नहीं होती।

आचार्य कुन्दकुन्द ने निश्चयनय को 'शुद्धनय' कहकर वर्णी जी के शब्दों में तीन सिद्धान्तों को ध्यान में रखकर प्रतिपादन किया है। निश्चय ही (1) शुद्धनय का विषय (जो प्रासंगिक है) नयपक्ष से अतिक्रान्त अनुभाव्य-समयसार है। (2) समस्त शास्त्र तत्त्व के प्रतिपादक हैं, अतः सभी व्यवहाररूप हैं। (3) निश्चयनय परमार्थ ज्ञानरूप है। यही विषय गाथा 13 में इसप्रकार कहा गया है कि शुद्धनय से जानना ही समयक्त्व है। इस गाथा में 'भूदत्थो' या 'भूदत्थेणाभिगदा' में केवल 'भूतार्थ' कहा गया है, 'अभूतार्थ' की बात नहीं है। 14वीं गाथा में 'शुद्धनय' स्पष्ट किया गया है।

यह तो एक सामान्य-स्वाध्यायी भी समझता है कि व्यवहार-निश्चयनय एक-दूसरे के प्रतिकूल हैं। अतः यदि हम कटारिया जी की यह बात मान लें कि 'अभूदत्थो' के स्थान पर 'भूदत्थो' होना चाहिए, तो हमारा यह कहना है कि ऐसी कल्पना से 11वीं गाथा में "ववहारो भूदत्थो भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ" पंक्ति में एक साथ दो बार 'भूदत्थो' का प्रयोग करने पर गाथा की रचना व्यर्थ हो जाती है। क्योंकि यदि दोनों नय भूतार्थ हैं, जैसाकि कटारिया जी ने अर्थ किया है—“व्यवहार भूतार्थ है और शुद्धनय भी भूतार्थ उपदिष्ट है” —ऐसा कहने से दोनों नयों का विषय एक हो जायेगा, जो सम्भव नहीं है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने अपना निष्कर्ष 'समयपाहुड' की गाथा 414 में यह कहकर दिया है कि व्यवहारनय मुनि, श्रावक के भेद से दो प्रकार के लिंगों को मोक्षमार्ग कहता है और निश्चयनय किसी लिंग को मोक्षमार्ग नहीं कहता है। यथार्थ में निश्चयनय आत्माश्रित होने का कथन करता है और व्यवहारनय पराश्रित होने का प्रतिपादक होने से 'निषिद्ध' कहा गया है। परन्तु आचार्य कुन्दकुन्द का भावार्थ तथा प्रयोजन समझे बिना श्री रूपचन्द कटारिया ने अनेक स्थलों पर 'समयसार' के पाठ तथा अर्थ बदलने का दुःसाहसपूर्ण कार्य किया है। इसे ही कहते हैं कि अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारना। मूलगाथा है—

एवं व्यवहारणओ पडिसिद्धो जाण णिच्छयणयेण ।

णिच्छयणयासिदा पुण मुणिणो पावंति णिव्वाणं ।। 272 ।।

श्री कटारिया जी के 'समयपाहुड' में यह गाथा 300 है, जिसमें 'णिच्छयणयेण' के स्थान पर जानबूझकर 'णिच्छयणये ण' का अर्थ, इसप्रकार निश्चयनय में व्यवहारनय का प्रतिषेध नहीं है, किया गया है। परन्तु आचार्य कुन्दकुन्द के विचारों से यह सर्वथा विरुद्ध है। क्योंकि आचार्य कुन्दकुन्द स्वयं गाथा 26-27 में कहते हैं कि व्यवहारनय तो आत्मा और शरीर को एक करता है और निश्चयनय एक द्रव्यसत्त्व का कथन करने से उन दोनों को भिन्न-भिन्न करता है। यही नहीं, गाथा 324 में उनका कथन है कि व्यवहारनय के वचनों से 'परद्रव्य

मेरा है' —ऐसा जो मानते हैं, वे अज्ञानी हैं; किन्तु 'परमाणुमात्र भी कुछ मेरा नहीं है' —ऐसा ज्ञानी जानते हैं।

व्यवहारनय का प्रयोजन स्पष्ट करने के लिए आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि "ये समस्त अध्ववसानादिभाव जीव के हैं— ऐसा जिनवरदेव ने जो उपदेश दिया है, वह व्यवहारनय का मत है (गाथा 46) वास्तव में जीव तो एक भावरूप है, अनेक भावोंवाला कहना व्यवहार है।"

केवल पाठ और अर्थ ही नहीं बदले गये हैं, किन्तु अनेक-स्थलों पर शब्दों के अर्थ भी गलत किये गये हैं। जैसेकि—'दरीसण' का अर्थ 'दिखाने को' किया गया है, किन्तु वास्तविक अर्थ दर्शन, विचारधारा या मत है। गाथा 27 में यह कहा गया था कि देह की स्तुति करने पर अज्ञानी यह मानता है कि प्रभु की स्तुति हो गई है। किन्तु जो शरीर से सर्वथा-भिन्न ज्ञानमात्र परमात्मा का अवलोकनकर कहता है कि 'शरीर के गुण केवली-भगवान् के नहीं हैं।' अतः वह स्तवन निश्चयनय में उपयुक्त नहीं है। गाथा 29, जो प्रकृत 'समयपाहुड' में 34 है, उसमें 'तं णिच्छये ण जुज्जदि' के स्थान पर 'तं णिच्छयेण जुज्जदि ण' पाठ बदल दिया गया है। इसका अर्थ लिखा है—“जब उस स्तुति को निश्चय से जोड़ते हैं, तब शरीर के गुण केवली के नहीं होते हैं। जो (मुनि) केवली के गुणों की स्तुति करता है, वह वस्तुतः केवली की स्तुति करता है।” लेखक का अर्थ कितना भ्रामक है कि मुनि यदि गुण-स्तुति करे, तो वह स्तुति है; अन्य व्यक्ति गुण-कीर्तन करता है, तो वह स्तुति नहीं है। इसप्रकार 'समयपाहुड' का भ्रष्ट रूप देखकर आँखों में आँसू भर आते हैं। मुझे यह समझ में नहीं आता कि 'व्यवहार को सत्यार्थ' (अपनी मिथ्या-कल्पना) मानकर कटारिया जी इससे क्या कार्य सिद्ध करना चाहते हैं? आचार्य कुन्दकुन्द का कथन तो बहुत स्पष्ट है कि अभेद, अखण्ड वस्तु-स्वरूप के तत्त्वज्ञान से आत्मा का कल्याण, सम्यग्दर्शन होता है; किन्तु व्यवहार को उपादेय मानने से क्या लाभ होनेवाला है?

'समयपाहुड' की मूलभाषा में वर्तनी भी कहीं-कहीं अशुद्ध है। जैसेकि "जो इन्दिए जिगित्ता" —(गाथा 36) में 'इंदिए' पाठ होना चाहिए। इसीप्रकार गाथा 354 में 'जाणदि य बन्धमोक्खं' में 'बंधमोक्खं' लिखना चाहिये। गाथा 228 "धम्मत्थि अधम्मत्थी आयासं सुत्तमंगपुब्बेसु" पाठ गलत मुद्रित हुआ है, पूरी गाथा गलत छपी है। गाथा 229 में 'जाणगो' के स्थान पर 'जाणसो' छपा है, जो गलत है। गाथा 231 का भी पाठ गलत है। इसप्रकार की छोटी-मोटी अनेक भूलों से यह संस्करण भरा पड़ा है।

श्री कटारिया जी का यह कथन उनके ही शब्दों में "इस गाथा की छाया के अनुसार ऐकान्तिक-अर्थ करने के कारण तथा मूलगाथा के प्रतिकूल होने से विवादास्पद रहा है। आचार्य जयसेन को भी उपर्युक्त अभूतार्थ अर्थ स्वीकार्य नहीं था।" परन्तु आचार्य जयसेन ने गाथा 13 कहकर उक्त गाथा के विषय में लिखा है—“ववहारो व्यवहारनयः अभूदत्थो अभूतार्थः असत्यार्थो भवति।” कितना स्पष्ट है।

इसीप्रकार गाथा 15 “भूदत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च —भूदत्थेण भूतार्थेन निश्चयनयेन शुद्धनयेन अभिगदा निर्णीता निश्चिता ज्ञाताः ।”

‘मूलाचार’ पूर्वाद्ध में अ० 5, गाथा 203 में भी यह गाथा ज्यों की त्यों है। उसका अर्थ भी माताजी ने यह लिखा है—“सत्यार्थरूप से जाने गये जीव, अजीव, पुण्य-पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष —ये ही सम्यक्त्व हैं।” “द्वितीयव्याख्यान पुनः व्यवहारो अभूदत्थो व्यवहारोऽभूतार्थो भूदत्थो भूतार्थश्च देसिदो देशितः कथितः न केवलं व्यवहारो देशितः सुद्धणओ शुद्धनिश्चयोऽपि ।” कहकर व्यवहारनय और निश्चयनय के सामान्य चार भेदों का उल्लेख किया गया है। वास्तव में नय का स्वरूप तथा भेद-प्रभेद बराबर समझना चाहिये। कहीं की बात कहीं जोड़कर आगम का इसप्रकार से अवर्णवाद करना किसी भी प्रकार उचित नहीं है। बड़े नयचक्र में कहा गया है—

जो सियभेदुवयारं धम्माणं कुणदि एकवत्थुस्स ।

सो व्यवहारो भण्णितो विवरीदो णिच्छयो होदि ।। 264 ।।

जो एक वस्तु के धर्मों में कथंचित्-भेद का उपचार करता है, उसे ‘व्यवहारनय’ कहते हैं और उससे विपरीत ‘निश्चयनय’ होता है। सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री के शब्दों में “जैसे आगम में वस्तुस्वरूप को जानने के लिये द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकनय हैं, वैसे ही अध्यात्म में आत्मा को जानने के लिए निश्चय और व्यवहारनय हैं। ‘धर्मी’ वस्तु और उसके ‘धर्म’ भिन्न-भिन्न नहीं हैं। वस्तु तो अनेक धर्मों का एक अखण्ड-पिण्ड है। जो नय उनमें भेद का उपचार करता है, वह व्यवहारनय है और जो ऐसा न करके वस्तु को उसके स्वाभाविकरूप में ग्रहण करता है, वह निश्चयनय है।” —(नयचक्र, पृ० 133)

सभी नयों के मूल में दो भेद हैं— निश्चयनय (द्रव्यार्थिक) और व्यवहारनय (पर्यायार्थिक) (नयचक्र, गाथा 182)। इनके ही सात नय (नैगमादिक) और तीन उपनय (सद्भूत, असद्भूत और उपचरित) कहे गये हैं। द्रव्यार्थिकनय के दस भेद हैं। पर्यायार्थिकनय के छह भेद हैं। द्रव्यार्थिकनय के तीन नय शुद्धग्राही होने से भूतार्थ हैं। वे तीन हैं— कर्मोपाधि-निरपेक्ष, सत्ताग्राहक और परमभावग्राही द्रव्यार्थिकनय। शेष नय व्यवहार से कहे गये हैं। अतः उनको ‘भूतार्थ’ नहीं कहा गया है। सभी नयचक्रों में जो भेद और उपचार से वस्तु व्यवहार करता है, वह ‘व्यवहारनय’ कहा गया है। ‘समयसार’ की गाथा 11 का भावार्थ लिखते हुये पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री कहते हैं— “आशय यह है कि भूतार्थ कहते हैं— सत्यार्थ को। ‘भूत’ अर्थात् ‘पदार्थ में रहनेवाला’, ‘अर्थ’ अर्थात् ‘भाव’, उसे जो प्रकाशित करता है, वह भूतार्थ है, सत्यवादी है। भूतार्थनय ही हमें यह बतलाता है कि जीव और कर्म का अनादिकाल से एकक्षेत्रावगाररूप सम्बन्ध है।”

सही बात यह है कि कटारिया जी व्यामोहपूर्वक व्यवहार का पक्ष सिरमौर सिद्ध करना चाहते हैं, किन्तु उनकी प्रवृत्ति में सम्यक्-व्यवहार नहीं है। क्योंकि असत्-कल्पनाओं की

निवृत्ति के लिए और रत्नत्रय की सिद्धि के लिये 'व्यवहार' आवश्यक है।⁶ उन्होंने व्यवहार का (चारित्र का नाम लेकर) भ्रान्तिमान पक्ष लेकर 'समयसार' के मूलरूप को भ्रष्ट तथा विकृत करने का दुःसाहस पूर्ण प्रयत्न किया है।

उनका यह कहना भी यथार्थ से परे है कि प्राकृत-साहित्य में पूर्वरूप का प्रयोग नहीं होता। वैसे यह आवश्यक नहीं है कि सभी रचनाओं में पूर्वरूप का प्रयोग नियमतः मिलता हो। किन्तु इतना निश्चित है कि 'ओ' के पश्चाद्वर्ती 'अ' का उच्चारण इस्व होता है। सम्भवतः उसके लिए ही जहाँ आवश्यक होता है, वहाँ पूर्वरूप के लिये 'अवग्रह' ('अ' के लिये ऽ) का प्रयोग होता है। जैसेकि—

आगासमेव रिक्तं अवगाहणलक्खणं जदो भणिदं ।

सेसाणि पुणोऽखित्तं अवगाहणलक्खणाभावा ।।

—(वसुनन्दि श्रावकाचार 31)

एक आकाशद्रव्य ही क्षेत्रवान् है, क्योंकि उसका 'अवगाहन' लक्षण कहा गया है। शेष पाँच द्रव्य क्षेत्रवान् नहीं हैं, क्योंकि उनमें 'अवगाहन' लक्षण नहीं पाया जाता है। यहाँ पर यदि अवग्रह का प्रयोग न हो, तो अर्थ का अनर्थ हो जायेगा। इसीप्रकार—

णित्सेसकम्ममोक्खो मोंक्खो जिणसासणे समुद्धिट्ठो ।

तम्हि कदे जीवोऽयं अणुहवदि अणंतयं सोंक्खं ।। 45 ।।

यहाँ 'अवग्रह' का चिह्न (ऽ) लगाना नितान्त आवश्यक है— भाषा, छन्द तथा अर्थ की स्पष्टता के लिये।

गाथा संख्या 2 में कहा गया है—'सायारो णायारो' यहाँ पर भी 'ऽणायारो' (अनगार, जो सागार से विपरीतार्थक है) होना चाहिये।

गाथा-संख्या 300 में स्पष्टतः 'पुट्ठो वाऽपुट्ठो वा' कहा गया है। यदि इसमें अवग्रह नहीं लगा होता, तो अर्थ स्पष्ट नहीं होता। अन्य ग्रन्थों से भी ऐसे प्रयोग लिये जा सकते हैं। गाथा 299 में आगत 'एँकट्टमेव' शब्द का अर्थ 'एकस्थ' किया गया है, जो गलत है। इसकी छाया 'एकार्थमेव' तथा शब्दार्थ 'एकार्थक' है। गाथा इसप्रकार है—

बुद्धी ववसाओ वि य अज्झवसाणं मदी य विण्णाणं ।

एँकट्टमेव सव्वं चित्तं भावो य परिणामो ।। 271 ।।

कटारिया जी ने इस गाथा को इसतरह लिखा है—

बुद्धि ववसाओ वि य अज्झवसाणं मदी य विण्णाणं ।

एकट्टमेव सव्वं चित्तं भावो य परिणामो ।। 272 ।।

इस एक गाथा को लिखने में उन्होंने तीन भूलों की हैं। ऐसी गाथाओं को पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है कि कटारियाजी को प्राकृत का क, ख, ग, घ भी नहीं आता है। प्राकृत में 'एक' शब्द के लिये 'एँक', 'बुद्धि' के लिये 'बुद्धी' और 'पि' या 'अपि' के लिये 'वि' शब्दरूप

बनते हैं। उक्त तीनों संस्कृतनिष्ठ शब्दरूप हैं। प्राकृत का एक सामान्य-विद्यार्थी भी यह समझता है कि कर्ता-कारक एकवचन में संस्कृत का 'साधु', 'भिक्षु', 'मति', 'कति', 'बुद्धि' आदि शब्दों में अन्तिम द्विस्व-स्वर दीर्घ हो जाता है। अतः साहू, भिक्खू, मदी, कदी, बुद्धी आदि शब्दरूप सम्यक् हैं।

पूरी पुस्तक को पढ़ने से ऐसा अनुभव होता है कि कटारिया जी ने एक बार भी सम्पूर्ण 'समयपाहुड' ग्रन्थ नहीं पढ़ा है; अन्यथा यह कथन नहीं करते और आचार्य अमृतचन्द्र के ऊपर कोप-वर्षा नहीं करते। उनके ही शब्दों में "हमारी दृष्टि में आचार्य अमृतचन्द्र ने उस उक्ति को आत्मसात् करते हुए 'ब्रह्म' के स्थान पर आत्मा तथा व्यवहार को लोकव्यवहाररूप 'माया' मानते हुए मिथ्या प्ररूपित किया हो तथा शंकराचार्य का जो 'अध्यास' मिथ्या है, उसी का अनुसरण करते हुए व्यवहारनय को मिथ्या निरूपित कर दिया।" 7

—यह कितना हास्यास्पद कथन है। समझ की बलिहारी है। उनको यह पता नहीं है कि आचार्य अमृतचन्द्र ने शंकराचार्य के नहीं, आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार 'अध्यवसान' की मीमांसा की है। 'समयपाहुड' में गाथा सं० 218, 280, 284, 285, 287, 289, 296, 297, 299 में 'अध्यवसान' की विशद-व्याख्या स्वयं आचार्य कुन्दकुन्द ने की है।

पं० पद्मचन्द्र शास्त्री के 'दो शब्द' पढ़कर यह स्पष्ट हो गया है कि 'समयार' को विवाद के घेरे में लाकर वे सदा अपना स्वार्थ सिद्ध करते रहे हैं। 'ववहारोऽभूयत्यो' को वे संस्कृत के व्याकरण-सूत्र के आधार पर यह कहकर 'भूयत्यो' सिद्ध करना चाहते हैं कि प्राकृत में अवग्रह नहीं होता। जिनको 'समय' शब्द का वास्तविक अर्थ नहीं पता है, वे उसका अर्थ 'आगम' ही करते रहेंगे; क्योंकि 'समय' के अनेक अर्थ होते हैं। ऐसे में मूल-लेखक ने किस अर्थ में उस शब्द का प्रयोग किया है, यह निश्चय करना होगा। आचार्य कुन्दकुन्द ने 'समयो खलु णिम्मलो अप्पा' अर्थात् 'समय' का अर्थ 'निर्मल आत्मा' किया है। इसीप्रकार 'शुद्ध' का अर्थ कहा है—

ण वि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणगो दु जो भावो ।

एवं भणंति सुद्धो णादो जो सो दु सो चेव ॥ 6 ॥

—(समयसार, गाथा 6)

'ज्ञायकभाव' इसी अर्थ में 'शुद्ध' को ग्रहण किया जाना चाहिये। किन्तु पं० पद्मचन्द्र शास्त्री अपनी विद्वत्ता की शोखी में मिथ्या-कल्पना से लिख रहे हैं—“हमारी दृष्टि से 'शुद्ध' प्रति नयतीति शुद्धनयः' ऐसा अर्थ प्रतीत होता है और समयपाहुडकर्ता को भी यही अर्थ इष्ट रहा है।”

पण्डित जी ! अभी तक आपने मुनियों के प्रति तीर चलाये थे। अब इन कल्पनाओं के तीर प्राचीन आचार्यों के प्रति भी इस अवस्था में चला रहे हैं। क्या यही विद्वत्ता है? जो

अपनी कल्पना से किसी भी तरह से 'व्यवहार' को शुद्ध करार देने के पक्षधर बन रहे हो। यदि व्यवहार को व्यवहार की पद्धति में कुछ कहते, तो भी हम मान लेते; लेकिन जहाँ परमार्थ का प्रकरण हो, शुद्धात्मा की बात कही जा रही हो, वहाँ परमार्थ की दृष्टि में 'व्यवहार' हेय ही है— यह आचार्य और कुन्दकुन्द एवं आचार्य अमृतचन्द्र का प्रामाणिक-निर्णय है। इसे फिर से समझने का प्रयत्न कीजिये।

आचार्य कुन्दकुन्द ने जिस 'तथ्य' व 'सत्य' को प्रकट किया है, वह वास्तव में जिनवरदेव की वाणी है। उसके बीच हमें अपनी कल्पना या विचार मिलाने का कोई मौलिक-अधिकार नहीं है। विशेष जानकारी के लिये माइल्लधवल-विरचित 'णयचक्रो' (नयचक्र), जिसका सम्पादन व अनुवाद सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री ने किया है, उसका पुनर्मुद्रण भारतीय ज्ञानपीठ से हुआ है, अवश्य पठनीय है।

अन्त में हम इस लेख के द्वारा 'वीरसेवा मन्दिर' के पदाधिकारियों से हाथ जोड़कर निवेदन करना चाहते हैं कि 'अनेकान्त' पत्रिका और 'वीरसेवा मन्दिर' के दशक-पूर्व के प्रकाशनों से समाज में जो प्रतिष्ठा व गरिमा बढ़ाई थी, आज वही जिनशासन को मलिन करनेवाली बन गई है। अतः यदि आप उसको पूर्ववत् रखना चाहते हैं, तो ऐसे प्रकाशनों पर तुरन्त प्रतिबन्ध लगाकर विद्वानों की समिति बना लें, और उनसे संस्तुति प्राप्त होने पर ही भविष्य में कोई प्रकाशन करें।

मैं यही आशा करता हूँ कि समाज का बौद्धिक-वर्ग अविलम्ब आगम-बदलने के उपक्रम पर प्रतिबन्ध लगाने का पूर्ण-प्रयत्न करें, ताकि अवशिष्ट आगम को भ्रष्टकर नष्ट होने से बचाया जा सके।



मध्यमिका के नारायण-वाटक से प्राप्त लेख की नई व्याख्या

पुरातन्त्र और साहित्य — दोनों के प्रमाणों से विदित होता है कि विक्रम से पूर्व की कई शताब्दियों में मथुरा भागवत धर्म का प्रबल केन्द्र था। वहाँ से उसके धार्मिक आन्दोलन की तरंगें चारों दिशाओं में व्याप्त हो रही थीं। पश्चिम की ओर राजस्थान में भागवत धर्म का यह विस्तार जिस स्थान में हुआ, वह अड़ावला पर्वतश्रेणी के दक्षिण-पूर्व में मध्यमिका नाम की राजधानी थी। वह प्रदेश उस समय 'शिबि' जनपद कहलाता था। प्राचीन 'मध्यमिका' का नाम 'महाभाष्य' में आया है और पतंजलि ने उसके विषय में लिखा है कि "यवनों ने पूर्व में साकेत और पश्चिम में 'मध्यमिका' पर अभियान करके उसका घेरा डाला था। सौभाग्य से चित्तौड़ से लगभग 8 मील दूर पर प्राचीन मध्यमिका के खँडहर मिल गये हैं।"

—(जैनलेख वीर-निर्वाण-संवत् 84)

**

दक्षिण भारत में सम्राट् चन्द्रगुप्त से पूर्व भी जैनधर्म का प्रचार-प्रसार था

—डॉ० सुदीप जैन

सुसंगठित भारतवर्ष की नींव-स्थापना करनेवाले ऐतिहासिक सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य का नाम सर्वोपरि है। उन्होंने भारतवर्ष को विदेशी आक्रान्ताओं से सुरक्षित ही नहीं किया था, अपितु अपने बल एवं पौरुष से उन्हें भारत को विजित करने की कल्पना करने तक से वंचित कर दिया था। आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक-उन्नति के शीर्ष पर भारत को प्रतिष्ठित करनेवाले इस महानतम सम्राट् को 'जैनसम्राट्' के रूप में बहुत कम लोग जानते हैं। जिन किन्हीं आधुनिक इतिहासविदों को इसका ज्ञान भी था, उन्होंने जाति-व्यामोह के पूर्वाग्रह में इस तथ्य को या तो उद्घाटित ही नहीं किया; और यदि किया भी, तो सम्राट् चन्द्रगुप्त को 'मुरा' नाम की दासी से उत्पन्न या 'नामितपुत्र' जैसे निकृष्ट कल्पनाओं से कलुषित करने का प्रयत्न किया।

तथ्यों की उपेक्षा करने, पूर्वाग्रह के कारण सत्य को न स्वीकारने या उसका उल्लेख न करने, कल्पित बातों से ऐतिहासिक तथ्यों को विकृतरूप में प्रस्तुत करने का प्रयास भारतीय इतिहास के लेखकों ने भरपूर किया है। आधुनिक-काल में बढ़ी इस प्रवृत्ति की प्राचीनकाल में छाया तक दिखाई नहीं देती है। इसीकारण आधुनिक इतिहास की पुस्तकों में जैनपरम्परा के महापुरुषों के व्यक्तित्व, जीवन एवं योगदान के बारे में तथ्यपरक यथार्थ-विवरण अनुपलब्ध है।

प्रस्तुत-प्रकरण में यहाँ सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य का संक्षिप्त-परिचय प्रथमतः प्रस्तुत करना चाहता हूँ।

विद्वानों की मान्यता है कि ईसापूर्व छठवीं शताब्दी में मौर्य-लोग 'पिप्पलीवन' में स्वाधीनभाव से बसे हुए थे। बौद्धग्रंथों में 'मौर्य' वंश को 'क्षत्रिय' कहा गया है—

“मोरिया नाम खत्तिया वंशजात ।”

इसी यशस्वी क्षत्रिय 'मौर्यवंश' में चन्द्रगुप्त नामक शुभलक्षणों वाले यशस्वी बालक का जन्म हुआ, जो कि महामति आर्य चाणक्य का पावन सान्निध्य एवं प्रातिभ संस्पर्श पाकर

अनुपम ऐतिहासिक सम्राट् बना। वैदिक-ग्रंथों में उसकी प्रशस्ति में यशोगीतियाँ निम्नानुसार प्राप्त होती हैं—

‘नव नन्दान् द्विजः कश्चित् प्रपन्नानुद्धरिष्यति ।
तेषामभावे जगतीं मौर्या भोक्षयन्ति वै कलौ ।।
स एव चन्द्रगुप्त वै द्विजो राज्येऽभिषेक्षयति ।
तत्सुतो वारिसारस्तु ततश्चाशोकवर्धनः ।।’²

अर्थ :— अभिमानी नव नन्दों का कोई ब्राह्मण उद्धार करेगा (अर्थात् उनके मान को विगलित करेगा), उनके न रहने पर इस भारतभूमि का भोग मौर्यवंशी-सम्राट् करेंगे। उनमें सम्राट् चन्द्रगुप्त को वह ब्राह्मण (चाणक्य) अभिषिक्त करेगा। उसका (चन्द्रगुप्त का) पुत्र वारिसार (बिंदुसार) होगा और उसका (बिंदुसार का) पुत्र अशोकवर्धन (सम्राट् अशोक) होगा।

इसी बात की पुष्टि इस पद्य में भी प्राप्त होती है—

“अनुगंगा प्रयागं च साकेतं महाधांस्तथा ।
एतान् जनपदान् सर्वान् भोक्ष्यन्ते गुप्तवंशजाः ।।”³

अर्थ :— गंगा के किनारे से लेकर प्रयाग, साकेत, मगध आदि इन सभी जनपदों का गुप्त (सम्राट् चन्द्रगुप्त) के वंशज उपभोग करेंगे।

ये सभी जैन-संस्कारों से अनुप्राणित थे। सम्राट् अशोक को कई लोग मांसाहारी कहने का साहस करते हैं, किंतु वे यह नहीं जानते कि व्यक्तिगतरूप से तो अशोक प्याज तक नहीं खाता था। ‘दिव्यावदान’ नामक ग्रंथ में लिखा है—

“देवि ! अहं क्षत्रियः, कथं पलाण्डुं परिभक्षयामि?”

अर्थ :— हे देवी ! मैं क्षत्रिय हूँ, मैं प्याज का भक्षण कैसे कर सकता हूँ?

ध्यातव्य है कि जैन-परम्परा में लहसुन-प्याज आदि पदार्थों का जमीकंद होने से त्याग विहित है।

जैन परम्परा में यह स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि चन्द्रगुप्त जैनधर्मायुयायी था, तथा न केवल वह जैनसम्राट् था, अपितु उसे निर्ग्रन्थ-जैन-मुनि की दीक्षा भी अंगीकार की थी और मुकुटधारी राजाओं में वह अन्तिम-सम्राट् था, जिसने निर्ग्रन्थ-जैनदीक्षा अंगीकार की थी—

‘मउडधरेसुं चरिमो, जिणदिक्खं धरदि चंदगुत्तो य ।

तत्तो मउडधरा दु पव्वज्जं णेव गेण्हंति ।।’⁴

अर्थ :— मुकुटधारी राजाओं में अन्तिम राजा चन्द्रगुप्त ने जिनेन्द्र-दीक्षा (जैनदीक्षा) धारण की। इसके पश्चात् मुकुटधारी प्रव्रज्या को ग्रहण नहीं करेंगे।

सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य के विषय में सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ विद्वान् डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन ने अपनी कृति ‘प्रमुख ऐतिहासिक जैन पुरुष और महिलायें’ में विस्तार से वर्णन किया है।

उसके कुछ अंश उन्हीं के शब्दों में यहाँ प्रस्तुत हैं—

“आधुनिक-दृष्टि से भारतवर्ष के शुद्ध व्यवस्थित राजनीतिक इतिहास का जो प्राचीन-युग है, उसके प्रकाशमान नक्षत्रों में प्रायः सर्वाधिक तेजपूर्ण-नाम ‘चन्द्रगुप्त’ और ‘चाणक्य’ हैं। ईसा पूर्व चौथी शताब्दी के अन्तिमपाद के प्रारम्भ के लगभग जिस महान् राज्यक्रान्ति ने शक्तिशाली ‘नन्दवंश’ का उच्छेद करके उसके स्थान में ‘मौर्यवंश’ की स्थापना की थी, और उसके परिणामस्वरूप थोड़े ही समय में ‘मगध-साम्राज्य’ को प्रथम ऐतिहासिक भारतीय साम्राज्य बनाकर अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँचा दिया था, उसके प्रधान-नायक ये ही दोनों गुरु-शिष्य थे। एक यदि राजनीति विद्या-विचक्षण एवं नीति-विशारद ब्राह्मण-पण्डित था तो दूसरा परम पराक्रमी एवं तेजस्वी क्षत्रिय-वीर था। इस विरल मणि-कांचन संयोग को सुगन्धित करनेवाला अन्य दुर्लभ-सुयोग यह था कि वह दोनों ही अपने-अपने कुल की परम्परा तथा व्यक्तिगत आस्था की दृष्टि से जैनधर्म के प्रबुद्ध-अनुयायी थे।

गत सार्थक एक सौ वर्षों की शोध-खोज ने यह तथ्य भी प्रायः निर्विवाद सिद्ध कर दिया है कि भारतवर्ष के प्रायः सभी महान् ऐतिहासिक सम्राटों की भाँति सर्व-धर्म-सहिष्णु एवं अति-उदारराशय होते हुए भी व्यक्तिगतरूप से चन्द्रगुप्त मौर्य ‘जैनधर्म का अनुयायी’ था। तराई-प्रदेश के साम्राज्य के ही भीतर ‘पिप्पलीवन’ के मोरियों का गणतन्त्र था। यह लोग श्रमणोपासक व्रात्य-क्षत्रिय थे। स्वयं महावीर के एक गणधर ‘मोरियपुत्र’ इसी जाति के थे और इस जाति में जैनधर्म की प्रवृत्ति थी। इनका एक पूरा ग्राम मयूरपोषकों का ही था।

घूमते-घूमते चाणक्य एक बार इसी ग्राम में आ पहुँचा और उसके मौर्यवंशी मयहर (मुखिया) के घर ठहरा। मुखिया की इकलौती लाडली पुत्री गर्भवती थी और उसीसमय उसे चन्द्रपान का विलक्षण ‘दोहला’ उत्पन्न हुआ, जिसके कारण घर के लोग चिन्तित थे। किसी की समझ में नहीं आ रहा था कि दोहला कैसे शान्त किया जाए। चाणक्य ने आश्वसन दिया कि वह गर्भिणी को चन्द्रपान कराके उसका दोहला शांत कर देगा, किन्तु शर्त यह है कि उत्पन्न होनेवाले शिशु पर, यदि वह पुत्र हुआ तो, चाणक्य का अधिकार होगा और वह जब चाहेगा, उसे अपने साथ ले जाएगा। चाणक्य ने एक थाली में जल (अथवा क्षीर-दूध) भरकर और उसमें आकाशगामी पूर्णचन्द्र को प्रतिबिम्बित करके गर्भिणी को इस चतुराई से पिला दिया कि उसे विश्वास हो गया कि उसने चन्द्रपान कर लिया है। दोहला शांत हो गया। कुछ मास पश्चात् मुखिया की पुत्री ने एक चन्द्रोपम सुदर्शन, सुलक्षण एवं तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया। जो ‘चन्द्रगुप्त’¹⁵ नाम से प्रसिद्ध हुआ।

आठ-दस वर्ष पश्चात् पुनः चाणक्य उसी मयूरग्राम में अकस्मात् आ निकला। वह ग्राम के बाहर थकान मिटाने के लिए एक वृक्ष की छाया में बैठ गया और उसने देखा कि सामने मैदान में कुछ बालक खेल रहे हैं। एक सुन्दर, चपल, तेजस्वी बालक राजा बना हुआ था और अन्य सब पर शासन कर रहा था। समीप जाकर ध्यान से देखा तो उसे उस बालक

में सामुद्रिक-शास्त्र के अनुसार एक चक्रवर्ती-सम्राट् के सभी लक्षण दीख पड़े। बालकों ने जब उसे बताया कि वह ग्राम-मयहर मोरिय का दौहित्र है, नाम चन्द्रगुप्त है, तो चाणक्य को यह समझने में देर न लगी कि 'यह वही बालक है, जिसकी माता का दोहला उसने युक्ति से शांत किया था।' वह अत्यंत प्रसन्न हुआ और बालक के अभिभावकों से मिलकर, उन्हें उनके वचन का स्मरण कराके बालक को अपने साथ लेकर उस स्थान से चला गया।

कई वर्ष तक उसने चन्द्रगुप्त को विविध अस्त्र-शस्त्रों के संचालन, युद्ध-विद्या, राजनीति तथा अन्य उपयोगी ज्ञान-विज्ञान एवं शास्त्रों की समुचित शिक्षा दी। धीरे-धीरे उसके लिए बहुत से युवक और साथी भी जुटा दिये। ई०पू० 326 में भारतभूमि पर जब यूनानी सम्राट् सिकन्दर महान् ने आक्रमण किया, तो उसे स्वदेश-भक्त चाणक्य का हृदय बहुत दुःखी हुआ, किन्तु उसने शिष्य चन्द्रगुप्त को सलाह दी कि वह यूनानियों की सैनिक-पद्धति, सैन्य-संचालन और युद्ध-कौशल का उनके बीच कुछ दिनों रहकर प्रत्यक्ष-अनुभव प्राप्त करे। सिकन्दर के सैन्य देश की सीमान्त के बाहर निकलते ही चन्द्रगुप्त ने पंजाब के वाहलीकों को उभाड़कर यूनानी-सत्ता के विरुद्ध विद्रोह कर दिया, यूनानियों द्वारा अधिकृत प्रदेश के बहुभाग को स्वतन्त्र कर लिया, और ई०पू० 323 के लगभग चाणक्य के पथ-प्रदर्शन में मगध-राज्य की सीमा पर अपना एक छोटा-सा स्वतन्त्र-राज्य स्थापित करने में भी सफल हो गया।

ई०पू० 321 के लगभग चन्द्रगुप्त और चाणक्य ने एक छोटे-से सैन्यदल के साथ छद्मवेष में नन्दों की राजधानी 'पाटलिपुत्र' में प्रवेश किया और दुर्ग पर आक्रमण कर दिया। चाणक्य के कूट-कौशल के बावजूद नन्दों की असीम-सैन्यशक्ति के सम्मुख ये बुरी तरह पराजित हुए और जैसे-तैसे प्राण बचाकर भाग निकले। नन्द की सेना ने इनका दूर तक पीछा किया। दो बार ये पकड़े जाने से बाल-बाल बचे। चाणक्य की तुरत-बुद्धि और चन्द्रगुप्त के साहस तथा गुरु के प्रति अटूट-विश्वास ने ही इनकी रक्षा की। एक दिन रात्रि के समय किसी गाँव में एक वृद्धा के झोंपड़े के बाहर खड़े हुए इन दोनों ने उस वृद्धा द्वारा अपने पुत्रों को डाँटने के प्रसंग में यह कहते सुना कि "चाणक्य अधीर एवं मूर्ख है। उसने सीमावर्ती प्रान्तों को हस्तगत किये बिना ही एकदम साम्राज्य के केन्द्र पर धावा बोलकर भारी भूल की है।" चाणक्य को अपनी भूल मालूम हो गयी, और उन दोनों ने अब नवीन-उत्साह एवं कौशल के साथ तैयारी आरम्भ कर दी। विन्ध्य-अटवी में पूर्व-संचित अपने विपुल-धन की सहायता से उन्होंने सुदृढ़ सैन्य-संग्रह करना शुरू कर दिया। पश्चिमोत्तर-प्रदेश के यवन, काम्बोज, पारसीक, खस आदि तथा अन्य सीमान्तों की पुलात, शबर आदि म्लेच्छ-जातियों की भी एक बलवान् सेना बनायी। वाहलीक उनके अधीन थे ही, पंजाब के मल्ल (मालव) गणतन्त्र को भी अपना सहायक बनाया और 'हिमवतकूट' अथवा 'गोकर्ण' (नेपाल) के किरात वंश के ग्यारहवें राजा 'पंचम' उपनाम 'पर्वत' या 'पर्वतिश्वर' को भी विजित-

साम्राज्य का आधा भाग दे देने का प्रलोभन देकर अपनी ओर मिला लिया। अब चन्द्रगुप्त और चाणक्य ने नन्द-साम्राज्य के सीमावर्ती-प्रदेशों पर अधिकार करना शुरू किया। एक के पश्चात् एक ग्राम, नगर, दुर्ग और गढ़ छल-बल-कौशल से जैसे भी बना, वे हस्तगत करते चले। विजित-प्रदेशों एवं स्थानों को सुसंगठित एवं व्यवस्थित करते हुए तथा अपनी शक्ति में उत्तरोत्तर-वृद्धि करते हुए अन्ततः वे राजधानी 'पाटलिपुत्र' तक जा पहुँचे।

नगर का घेरा डाल दिया गया और उस पर अनवरत भीषण-आक्रमण किये गये, चन्द्रगुप्त के पराक्रम, रणकौशल एवं सैन्य-संचालन-पटुता, चाणक्य की कूटनीति एवं सदैव सजग गृह्य-दृष्टि तथा पर्वत की दुस्साहसपूर्ण बर्बर युद्धप्रियता, तीनों का संयोग था। नन्द भी वीरता के साथ डटकर लड़े, किन्तु एक-एक करके सभी नन्दकुमार लड़ते-लड़ते वीरगति को प्राप्त हुए। अन्ततः वृह-महाराज 'महापद्मनन्द' ने हताश होकर धर्मद्वार के निकट हथियार डाल दिये और आत्मसमर्पण कर दिया।

वृह नन्द ने चाणक्य को धर्म की दुहाई देकर याचना की कि उसे सपरिवार सुरक्षित अन्यत्र चला जाने दिया जाए। चाणक्य की अभीष्ट-सिद्धि हो चुकी थी। उसकी भीषण-प्रतिज्ञा की लगभग पचीस-वर्ष के अथक-प्रयत्न के उपरान्त प्रायः पूर्ति हो चुकी थी और वह क्षमा का महत्त्व भी जानता था, अतएव उसने नन्दराज को सपरिवार नगर एवं राज्य का परित्याग करके अन्यत्र चले जाने की अनुमति उदारतापूर्वक प्रदान कर दी और यह भी कह दिया कि "जिस रथ में वह जाए, उसमें जितना धन वह अपने साथ ले जा सके, वह भी ले जाए।" किन्तु जैसे ही नन्द का रथ चलने का हुआ नन्द-सुता 'दुर्धरा' अपरनाम 'सुप्रभा' ने शत्रु-सैन्य के नेता विजयी-वीर चन्द्रगुप्त के सुदर्शनरूप को जो देखा, तो प्रथम-दृष्टि में ही वह उस पर मोहित हो गयी और प्रेमाकुल-दृष्टि से पुनः-पुनः उसकी ओर देखने लगी। इधर चन्द्रगुप्त की वही दशा हुई और वह भी अपनी दृष्टि उस रूपसी राजनन्दिनी की ओर से न हटा सका। इन दोनों की दशा को लक्ष्य करके नन्दराज और चाणक्य दोनों ने ही उनके स्वयंवरित-परिणय की सहर्ष-स्वीकृति दे दी। तत्काल सुन्दरी 'सुप्रभा' पिता के रथ से कूदकर चन्द्रगुप्त के रथ पर जा चढ़ी। किन्तु इस रथ पर उसका पग पड़ते ही उसके पहिये के नौ आरे तड़ाक से टूट गये (णव अरगा भग्ना)। सबने सोचा कि यह अमंगल-सूचक अपशकुन है, किन्तु समस्त विद्याओं में पारंगत चाणक्य ने उन्हें समझाया कि 'भय की कोई बात नहीं है, यह तो एक शुभ-शकुन है और इसका अर्थ है कि इस नव-दम्पती की सन्तति नौ पीढ़ी तक राज्यभोग करेगी।'

अब वीर चन्द्रगुप्त मौर्य नन्ददुहिता राजरानी सुप्रभा को 'अग्रमहिषी' बनाकर मगध के राज्य-सिंहासन पर आसीन हुआ और नन्दों के धन-जनपूर्ण विशाल एवं शक्तिशाली साम्राज्य का अधिपति हुआ। इसप्रकार ई०पू० 317 में पाटलिपुत्र में नन्दवंश का पतन और उसके स्थान में मौर्यवंश की स्थापना हुई। चन्द्रगुप्त को 'सम्राट्' घोषित करने के पूर्व

चाणक्य ने नन्द के स्वामिभक्त-मन्त्री राक्षस के षड्यन्त्रों को विफल किया और उसे चन्द्रगुप्त की सेवा में कार्य करने के लिए राजी कर लिया। अन्य पुराने योग्य-मन्त्रियों, राजपुरुषों एवं कर्मचारियों को भी उसने साम-दाम-भय-भेद से नवीन-सम्राट् के पक्ष में कर लिया। वह स्वयं महाराज का प्रधानामात्य रहा। मन्त्रीश्वर चाणक्य के सहयोग से सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य ने साम्राज्य का विस्तार एवं सुसंगठन किया और उसके प्रशासन की सुचारु-व्यवस्था की। इस नरेश के शासनकाल में राष्ट्र की शक्ति और समृद्धि की उत्तरोत्तर-वृद्धि होती गयी। ई०पू० 312 में उसने 'अवन्ति' को विजय करके 'उज्जयिनी' को फिर से साम्राज्य की उपराजधानी बनाया।

'उज्जयिनी' पर अधिकार करने के पश्चात् चन्द्रगुप्त ने दक्षिण-भारत की दिग्विजय के लिए प्रयास किया। 'मालवा' से सुराष्ट्र होते हुए उसने 'महाराष्ट्र' में प्रवेश किया। 'सुराष्ट्र' में उसने 'गिरिनगर' (उज्जयन्त-गिरि) में भगवान् नेमिनाथ की वन्दना की और पर्वत की तलहटी में 'सुदर्शन' नामक एक विशाल-सरोवर का उस प्रान्त के अपने राज्यपाल वैश्य पुष्पगुप्त की देख-रेख में निर्माण कराया। उक्त सुदर्शन-सरोवर के तट पर निर्ग्रन्थ-मुनियों के निवास के लिए गुफायें (लेण) भी बनवायीं, जिनमें से प्रधान-लेण 'चन्द्रगुफा' के नाम से प्रसिद्ध हुई। महाराष्ट्र, कोंकण, कर्णाटक, आन्ध्र एवं तमिलदेश-पर्यन्त चन्द्रगुप्त मौर्य ने अपनी विजय-वैजयन्ती फहरायी। प्राचीन तमिल-साहित्य, दक्षिणात्य अनुश्रुतियों एवं कतिपय शिलालेखों से मौर्य का उक्त दक्षिणीय-प्रदेशों पर अधिकार होना पाया जाता है। दक्षिण-देश की इस विजय-यात्रा में एक अन्य प्रेरक-कारण भी था। चन्द्रगुप्त का निजी-कुल 'मोरिय' आचार्य भद्रबाहु-श्रुतकेवली का भक्त था। पूर्वोक्त दुष्काल के समय इन आचार्य के ससंघ दक्षिण-देश को विहार कर जाने पर भी वे लोग उन्हीं का आम्नाय के अनुयायी रहे और मगध में रह जानेवाले स्थूलिभद्र आदि साधुओं तथा उनकी परम्परा को उन्होंने मान्य नहीं किया।

चन्द्रगुप्त, चाणक्य आदि इसी आम्नाय के थे। अतएव आम्नाय-गुरु भद्रबाहु ने कर्णाटक-देश के जिस 'कटवप्र' अपरनाम 'कुमारीपर्वत' पर समाधिमरणपूर्वक देहत्याग किया था, पुण्य-तीर्थ के रूप में उसकी वन्दना करना तथा उक्त आचार्य की शिष्य-परम्परा के मुनियों से धर्म-लाभ लेना और उनकी साता-सुविधा आदि की व्यवस्था करना ऐसे कारण थे, जो सम्राट् की इस दक्षिण-यात्रा में प्रेरक रहे प्रतीत होते हैं।

चन्द्रगुप्त मौर्य के शासनकाल की एक अन्य अति-महत्त्वपूर्ण घटना ई०पू० 305 में मध्य-एशिया के महाशक्तिशाली यूनानी सम्राट् सेल्यूकस निकेतर द्वारा भारतवर्ष पर किया गया भारी-आक्रमण था। चन्द्रगुप्त-जैसे नरेन्द्र और चाणक्य जैसे मन्त्रीराज असावधान कैसे रह सकते थे? उनका गुप्तचर-विभाग भी सुपुष्ट था। मौर्य-सेना ने तुरन्त आगे बढ़कर आक्रमणकारी की गति को रोका। स्वयं सम्राट् चन्द्रगुप्त ने सैन्य-संचालन किया। वह

यूनानियों की युद्ध-प्रणाली से भलीभाँति परिचित था, उनके गुणों को भी जानता था और दोषों को भी। परिणामस्वरूप यूनानी सेना बुरीतरह पराजित हुई और स्वयं सम्राट् सेल्युकस बन्दी हुआ। उसकी याचना पर मौर्य-सम्राट् से सन्धि कर ली, जिसके अनुसार सम्पूर्ण पंजाब और सिन्ध पर ही नहीं, वरन् काबुल, हिरात, कन्दहार, बिलोचिस्तान, कम्बोज (बदख्शाँ) और पामीर पर मौर्य-सम्राट् का अधिकार हो गया और भारत के भौगोलिक-सीमान्तों से भी यूनानी सत्ता तिरोहित हो गयी।

इसप्रकार सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य ने अपने पराक्रम एवं राजनीतिक सूझ-बूझ से अपनी स्वभाव-सिद्ध प्राकृतिक-सीमाओं से बद्ध प्रायः सम्पूर्ण भारत महादेश पर अपना एकछत्र-आधिपत्य स्थापित कर लिया। इतनी पूर्णता के साथ समग्र भारतवर्ष पर आज पर्यन्त सम्भवतया अन्य किसी सम्राट् या एकराट् राज्यसत्ता का, मुगलों और अंग्रेजों का भी अधिकार नहीं हुआ।

इसी युद्ध के परिणामस्वरूप यवनराज का मेगेस्थनीज़ नामक यूनानी राजदूत पाटलिपुत्र की राजसभा में ई०पू० 303 में आया, कुछ समय यहाँ रहा, और उसने मौर्य-साम्राज्य का विविध-विवरण लिखा, जो कि भारत के तत्कालीन इतिहास का बहुमूल्य-साधन बना। उसने भारतवर्ष के भूगोल, राजनीतिक विभागों, प्राचीन अनुश्रुतियों, धार्मिक विश्वासों एवं रीतिरिवाजों, जनता के उच्च-चरित्र एवं ईमानदारी, राजधानी की सुन्दरता, सुरक्षा एवं सुदृढ़ता, सम्राट् की दिनचर्या एवं वैयक्तिक-चरित्र, उसकी न्यायप्रियता, राजनीतिकपटुता और प्रशासन-कुशलता, विशाल चतुरंगिणी सेना, जिसमें चार लाख वीर सैनिक, नौ हजार हाथी तथा सहस्रों अश्व, रथ आदि थे और जिसका अनुशासन अत्युत्तम था, प्रजा के दार्शनिक (या पण्डित), शिल्पी, व्यवसायी एवं व्यापारी, व्याध एवं पशुपालक, सिपाही, राज्यकर्मचारी, गुप्तचर व निरीक्षक, मन्त्री एवं अमात्य आदि, सात वर्गों का, सेना के विभिन्न विभागों का, राजधानी एवं अन्य महानगरियों के नागरिक-प्रशासन के लिए छह विभिन्न समितियों का, इत्यादि अनेक उपयोगी-बातों का वर्णन किया है। उसे यह देखकर आश्चर्य हुआ था कि भारतवर्ष में दास-प्रथा का अभाव है। उसने यह भी लिखा है कि भारतवासी लेखनकला का विशेष आश्रय नहीं लेते और अपने धर्मशास्त्रों, अनुश्रुतियों तथा अन्य दैनिक-कार्यों में भी अधिकतर मौखिक-परम्परा एवं स्मृति पर ही निर्भर रहते हैं। प्रजा की जन्म-मृत्यु गणना का विवरण, विदेशियों के गमनागमन की जानकारी, नाप-तौल एवं बाजार का नियन्त्रण, अतिथिशालायें, धर्मशालायें, राजपथें आदि का संरक्षण सभी की उत्तम-व्यवस्था थी। देश का देशी एवं विदेशी व्यापार बहुत उन्नत था, बड़े-बड़े सेठ और सार्थवाह थे, नाना प्रकार के उद्योग-धन्धे थे, राजा और प्रजा दोनों ही अत्यन्त धन-वैभव सम्पन्न थे, विद्वानों का देश में आदर था। स्वयं सम्राट् श्रमणों एवं ब्राह्मणों को राज-प्रासाद में आमन्त्रित करके अथवा उसके पास जाकर आवश्यक परामर्श लेते थे। कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में सम्पूर्ण भारतवर्ष के रूप में चक्रवर्ती-क्षेत्र की जो परिभाषा है, वही समुद्रपर्यन्त, आसेतु-हिमाचल भूखण्ड इस मौर्य-सम्राट्

के अधीन था, जो विजित, अन्त और उपरान्त-क्षेत्रों के भेद से तीन वर्गों में विभक्त था। जो भाग सीधे केन्द्रीय-शासन के अन्तर्गत था, वह 'विजित' कहलाता था और अनेक चक्रों में विभाजित था। त्रिरत्न, चैत्यवृक्ष, दीक्षावृक्ष आदि जैन-सांस्कृतिक-प्रतीकों से युक्त कुछ सिक्के भी इस मौर्य-सम्राट् के प्राप्त हुए हैं।”⁶

इन सम्राट् चन्द्रगुप्त ने जैनदीक्षा अंगीकार करने अपने गुरु अंतिम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु के साथ दक्षिण-भारत के कर्नाटक-प्रांत में 'श्रवणबेलगुल' क्षेत्र में तपस्या की और समाधिपूर्वक देहत्याग किया। वह स्थित शिलालेख में ऐसा उल्लेख मिलता है—

“... जिनशासनायानवरत-भद्रबाहु-चन्द्रगुप्त-
मुनिपतिचरणमुद्राङ्कित विशालशी.....।”⁷

इस शिलालेख में लिखा है कि चन्द्रगिरि पर्वत पर मुनिपति भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त के चरणचिह्न अंकित किये गये।

अन्य ग्रंथों से भी इस तथ्य के पोषक प्रमाण प्राप्त होते हैं—

भद्रबाहुवचः श्रुत्वा चन्द्रगुप्तो नरेश्वरः ।
अस्यैव योगिनः पार्श्वे दधौ जैनेश्वरं तपः ॥
चन्द्रगुप्तमुनिः शीघ्रं प्रथमो दशपूर्विणाम् ।
सर्वसंघाधिपो जातो विशाखाचार्यसंज्ञकः ॥
अनेन सह संघोऽपि समसतो गुरुवाक्यतः ।
दक्षिणापथदेशस्थ-पुन्नाटविषयं ययौ ॥”⁸

अर्थ :— श्री भद्रबाहु आचार्य के वचन सुनकर सम्राट् चन्द्रगुप्त ने भद्रबाहु के पास जैनेन्द्री दीक्षा लेकर तप किया। चन्द्रगुप्त शीघ्र दश-पूर्वपाठियों का अग्रेसर 'विशाखाचार्य' नाम पाकर मुनिसंघ का नायक बन गया। विशाखाचार्य का समस्त संघ गुरु-आदेश से (भद्रबाहु आचार्य की आज्ञा से) दक्षिणापथ-देशवर्ती 'पुन्नाट जनपद' को गया।

आधुनिक विचारक भी इस तथ्य को स्वीकारते हैं—

“भारत सीमान्त से विदेशी-सत्ता को सर्वथा पराजित करके भारतीयता की रक्षा करनेवाले सम्राट् चन्द्रगुप्त ने जैन-आचार्य श्री भद्रबाहु स्वामी से दीक्षा ग्रहण की थी। उनके पुत्र बिम्बसार थे। सम्राट् अशोक उनके पौत्र थे। कुछ दिन जैन रहकर अशोक पीछे बौद्ध हो गये थे।”⁹

ऐतिहासिक प्रमाणों से विदित होता है कि सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य की राज्याभिषेक-तिथि 26 फरवरी 387 ईसापूर्व थी, तथा ईसापूर्व 365 में इन्होंने जैनमुनि दीक्षा ली थी। इसप्रकार कुल 22 वर्षों तक राज्य करके ये दीक्षित हुए थे।

ऐसे यशस्वी सम्राट् के मुनिदीक्षा अंगीकार करने एवं प्राकृतिक कारणों से गुरु-सान्निध्य में दक्षिणभारत जाने और वहाँ तपस्या करने के उपरान्त व्यापक धर्मप्रभावनापूर्वक

समाधिविधि से देहत्याग करने की चर्चा अनेकत्र प्राप्त होती है। किन्तु इस प्रसंग में प्रायः कुछ लोग यह कह जाते हैं कि चन्द्रगुप्त और भद्रबाहु के प्रवास से पूर्व दक्षिणभारत में जैनधर्म का प्रचार-प्रसार नहीं था। यह बात ऐतिहासिक साक्ष्यों एवं व्यावहारिक-परम्परा से मेल नहीं खाती है। इस विषय में कतिपय विचार-बिन्दु निम्नानुसार हैं—

अंतिम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु अपने शिष्य चन्द्रगुप्त मौर्य (विशाखाचार्य) एवं अन्य विशाल मुनिसंघ के साथ ईसापूर्व 298 में दक्षिण भारत पहुँचे थे। ईसापूर्व द्वितीय शताब्दी के दिग्विजयी सम्राट् खारवेल के हाथीगुम्फा-अभिलेख के अनुसार भी दक्षिणभारत एवं कलिंग में जैनधर्म के प्रचार की सूचना मिलती है। महाराष्ट्र के बारे में एक प्रमाण यह मिलता है कि भगवान् महावीर के पूर्ववर्ती कलिंग-राजा करकडु, जो कि पाश्र्वनाथ के शिष्य थे, ने तेरपुर (धाराशिव) की गुफा का दर्शनकर वहाँ जैनमंदिरों का निर्माण कराया था। 'महावंश' के अध्ययन से ज्ञात होता है कि ईसापूर्व पन्द्रहवीं शताब्दी में जैनधर्म सिंहल (लंका) में प्रचारित हो चुका था। इस तथ्य के आधार पर श्री रामस्वामी आयंगर ने जिज्ञासा व्यक्त की है कि 'दक्षिणभारत को स्पर्श किये बिना क्या जैनधर्म का सीधे सिंहल पहुँच सकना संभव था।?'¹⁰ स्वतः स्पष्ट है कि महाराष्ट्र, आंध्र, कर्नाटक, केरल एवं तमिलनाडु प्रदेशों में प्रभावना करता हुआ ही जैनधर्म सिंहल में प्रचारित-प्रसारित हुआ होगा।

जैन-ग्रंथों में यह उल्लेख मिलता है कि आदितीर्थकर ऋषभदेव के पुत्र बाहुबलि दक्षिण-भारत के प्रथम राजा बने थे। तथा तभी से दक्षिणभारत में जैनधर्म का प्रचार-प्रसार था। स्वयं बाहुबलि को भी 'गोदावरी नदी' के तट पर स्थित 'पोदनपुर' में उग्र-तपस्या के बाद कैवल्य की प्राप्ति होना जैनग्रंथों में वर्णित है। इससे प्रागैतिहासिक-काल से ही जैनधर्म का दक्षिण-भारत में प्रचार-प्रसार होना ज्ञापित होता है।

'हरिवंशपुराण' के अनुसार पांडवों ने दक्षिणभारत में वनवास के समय दक्षिण की 'मथुरा' नगरी (मदुरै) की स्थापना की थी। और इस समय तक द्वारिका नष्ट-भ्रष्ट हो चुकी थी।¹¹ इसीकारण नारायण श्रीकृष्ण एवं बलदेव ने दक्षिण की ओर प्रयाण किया। मार्ग में कौशाम्बी के वन में जरत्कुमार के निमित्त से नारायण श्रीकृष्ण दिवंगत हुए। यह जानकर पांडव बलराम के पास पहुँचे और उन्होंने नारायण श्रीकृष्ण के शव को शृंगिपर्वत पर अग्नि-संस्कार किया। फिर बलराम ने उसी शृंगिपर्वत पर तपस्या की। फिर पांडवों को पता चला कि 'पल्लवदेश' में भगवान् अरिष्टनेमि विहार कर रहे हैं, तो वे उनके दर्शनार्थ वहाँ गये।¹²

वैदिक-पुराणग्रंथों में भी उल्लेख मिलता है कि नर्मदा के निकटवर्ती क्षेत्र में विष्णु जी ने दिग्म्बर जैन-मुनि के रूप में अहिंसा और सौहार्द की भावना का प्रसार किया था।¹³

दक्षिणभारत के सम्राट् नेवुपादनेजार के ताम्रशासनलेख से ज्ञात होता है कि वह भी जैनधर्मानुयायी था और ईसापूर्व 1140 में उसने द्वारिका के निकट 'रैवतक पर्वत' पर

आकर तीर्थकर अरिष्टनेमि की पूजा की और उनका एक मंदिर भी वहाँ बनवाया था।¹⁴ ईसापूर्व चौथी शताब्दी में तमिलनाडु के दिगम्बर जैन साधु द्वारा 'तोळकाप्पियम्' नामक तमिल व्याकरण-ग्रंथ की रचना का उल्लेख मिलता है। 'मणिमेखलै' एवं 'शिलिप्पदीकारम्' से भी हमें अनेकों ऐसे उल्लेख मिलता हैं, जो ईसापूर्व काल में भी बहुत पहिले से दक्षिणभारत के सुदूर समुद्रतटवर्ती क्षेत्रों तक जैनधर्म का प्रचार-प्रसार एवं प्रभाव सिद्ध करते हैं।

इससे प्रतीत होता है कि आचार्य भद्रबाहु स्वामी ने अपने निमित्तज्ञान से दक्षिणभारत में केवल सुकाल की जानकारी नहीं ली थी, अपितु उन्हें दक्षिण में जैनधर्म एवं तत्त्वज्ञान के प्रचार-प्रसार का भी पता था; तभी उन्होंने सुविचारितरूप में विन्ध्य-महागिरि लांघकर दक्षिणभारत में मुनिसंघ के प्रवास का निर्णय लेकर उसे चरितार्थ किया था। तथा इसप्रकार जैनत्व की मूलपरम्परा की रक्षा उन्होंने अपनी बहुज्ञता और दूरदर्शिता से की थी। सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य (विशाखाचार्य) का भी इस सम्पूर्ण कार्यविधि में अनन्य योगदान रहा; इसमें भी कोई सन्देह नहीं है।

इससे यह तथ्य भी ज्ञापित होता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य ने न केवल एक सम्राट् के रूप में, अपितु एक साधक के भी रूप में जैनत्व का संरक्षण एवं प्रचार-प्रसार उत्तर से दक्षिण भारत तक अबाधरूप से निरन्तर किया था।

सन्दर्भग्रंथ-सूची

1. महापरिणिष्वाणसुत्त, पृष्ठ 260।
2. भागवत, 12/1/12-13।
3. वायुपुराण, 99/383।
4. आचार्य यतिवृषभ, तिलोपपण्णत्ति, 4/1481।
5. दोहले के अनुरूप तो उस नवजात बालक का नामकरण 'चन्द्रभुक्त' अर्थात् 'चन्द्रमा का आहार करनेवाला' रखा गया था। जैनग्रन्थों में इसके प्रमाण उपलब्ध हैं। किंतु कालान्तर में वह 'चन्द्रगुप्त' नाम से प्रसिद्ध हुआ।
6. द्रष्टव्य, प्रमुख ऐतिहासिक जैनपुरुष और महिलायें, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, पृष्ठ 47-56।
7. चन्द्रगिरि पर्वत-स्थित शिलालेख क्रं. 162।
8. आचार्य हरिषेण (सातवीं शताब्दी), कथाकोश, 38-39।
9. हनुमान प्रसाद पोद्दार, कल्याण मासिक-पत्र 1950, गोरखपुर, पृ० 864
10. Studies in South India Jainism, Part I, Page 33.
11. हरिवंशपुराण, पृष्ठ 487।
12. वही, सर्ग 53-65, तथा 'दक्षिण का जैन इतिहास', भाग 3, पृष्ठ 78-80।
13. द्रष्टव्य विष्णुपुराण, अध्याय 18, पद्मपुराण, अध्याय 1, मत्स्यपुराण, अध्याय 24।
14. द्रष्टव्य Times of India, 19th March 1935, पेज 9 तथा संक्षिप्त जैन इतिहास, भाग 3, पृ० 65-66।



‘छक्खण्डागमसुत्’ की ‘धवला’ टीका के प्रथम पुस्तक के अनेकार्य-शब्द

—डॉ० उदयचन्द्र जैन

शौरसेनी के आद्य-आगम ‘छक्खण्डागमसुत्’ का जैन-साहित्य में अद्वितीय-स्थान है। शौरसेनी प्राकृत में निबद्ध यह ग्रंथ सूत्ररूप में सम्पूर्ण जैन-सिद्धान्त की जानकारी देता है। इसके सूत्रकार आचार्य पुष्पदन्त और आचार्य भूतबली हैं। उनकी इस सूत्रशैली पर आचार्य वीरसेन ने जो व्याख्या प्रस्तुत की, वह अधिकांशतः ‘शौरसेनी प्राकृत’ में है, जिसमें व्याख्याकार ने आचार्य-परम्परा की रचनाओं के प्राकृत-उद्धरण देकर सूत्रों के रहस्य को प्रकट किया है। व्याख्याकार के विवेचन में जो धवलता आई है, जो प्रामाणिकता दी गई है, वह प्राकृत-मनीषियों को धवल बना रही है।

पुरानी पाण्डुलिपियों के आधार पर जिन मनीषियों ने अपना उपयोग लगाया, उनका विधिवत् संशोधन किया, वह अपूर्व ही नहीं, अपितु ‘दाँतों तले ऊँगली’ दबाने जैसा कार्य है। यह कार्य लोहे के चने चबाने से कठिन है। शास्त्रीय-पद्धति के पं० देवकीनन्दन, पं० हीरालाल शास्त्री, पं० फूलचन्द्र शास्त्री, पं० बालचन्द्र शास्त्री आदि ने क्रियात्मक-योग से प्राकृत के इस प्राचीन-श्रुत का सम्पादन ही नहीं किया, अपितु उसकी हिन्दी-व्याख्या देकर राष्ट्रभाषा-हिन्दी के लिए महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। डॉ० हीरालाल, डॉ० ए०एन० उपाध्ये, पं० कैलाशचंद्र शास्त्री, पं० जगन्मोहनलाल जी आदि की सूझबूझ के परिणाम का यह सुखद वृक्ष अपनी धवलता को सतत बिखेरता रहेगा।

आज इस षट्खण्डागम की ‘धवला’ टीका पर मनीषियों के माध्यम से वाचनार्यों भी विशेष महत्त्व स्थापित करने लगीं हैं। वह जिस गति के साथ आगे बढ़ा या पं० जवाहरलाल भिण्डर, पं० पन्नालाल जी साहित्याचार्य के बाद तो मानो विराम ही लग गया है। इस धवला टीका को आज के शास्त्रियों के बीच पहुँचाने की परम-आवश्यकता है, इस पर गोष्ठी नहीं, अपितु प्रतिवर्ष कई वाचनाओं की आवश्यकता है। जो भी वाचना हो, उसमें वे सभी समाज में प्रतिष्ठित-शास्त्री तो बुलाए ही जायें; साथ ही ऐसे शास्त्रियों को भी आमंत्रित किया जाए जो अभी पूर्ण युवा हैं, जिनके पास साधन भी हैं, रोजी-रोटी भी है और जिनके पास नहीं,

उन्हें अधिक से अधिक सुविधा देकर 'शौरसेनी प्राकृत' के पुरातन-सूत्रों को समझना उतना ही श्रेयस्कर है, जितना ज्ञान दान देना। यह ज्ञान-दान विधिवत् बनाए रखा जा सकता है, क्योंकि समाज के दातार, सामाजिक संस्थायें आदि अब भी क्रियाशील हैं। हमारे चतुर्विध-संघ के सूत्रधार इन सूत्र-ग्रन्थों के समग्र-अध्ययन के लिए बहुत कुछ कर सकते हैं। चातुर्मासिक क्षणों में सूत्र ही सूत्र हों, वे भी ऐसे आचार्यों के जिनके अध्यात्म-जगत् से यह जैन-साहित्य पल्लवित, पुष्पित एवं वट-वृक्ष की तरह विशाल हुआ।

वट-वृक्ष के रूप में 'धवला' टीका कितने शास्त्रियों ने देखी, कितनों ने उनका विधिवत् अवलोकन किया, कितने के पास उसके प्रकाशित सोलह भाग में से एक-दो भाग भी हैं? गहन-सिद्धान्त की जानकारी चाहिए है, तो आचार्य-संघ को यह पहला काम करना होगा कि इनका स्वाध्याय मुनियों के बीच में, आर्यिकाओं के मध्य में एवं श्रावक-श्राविकाओं के सान्निध्यमात्र में होने से कोई कार्य नहीं चलनेवाला है; अपितु इन सिद्धान्त-ग्रन्थों की ग्रन्थियों को विधि-विधान करानेवाले शास्त्रियों, अध्यापन करानेवाले मनीषियों तक भी पहुँचाना होगा।

'धवला' टीका में समग्र अक्षर-विज्ञान, व्याकरणशास्त्र, गणित, ज्योतिष आदि तो हैं ही, पर इसमें कईप्रकार के कोष भी विद्यमान हैं। 'धवला' पुस्तक एक, खण्ड एक के 'सत्प्ररूपणा' में जो शब्द हैं, उनका धातुपाठ, परिभाषा, अर्थ, सूत्र विवेचन, विश्लेषण, शंका-समाधान आदि से भी महत्त्व हैं। इसके शब्दों में जो अनेकार्थक पर्यायवाची शब्द हैं, उनका विश्लेषण कोषवृद्धि में निश्चित ही परम-सहकारी होगा; क्योंकि एक ही शब्द के अनेक शब्द, शब्द-विज्ञान की बढ़ोत्तरी में सदैव सहायक होते हैं और उससे ही सूत्र-रहस्य, व्याख्याकार का विवेचन, विषय-वर्णन आदि समझा जा सकता है। अर्थ का गाम्भीर्य-शब्द-विज्ञान के भण्डार से ही प्रस्फुटित होता है और उससे ही जिनशासन की महिमा मंडित होती है।

'धवला' के प्रारम्भिक मंगलाचरण में विविध-विशेषणों के माध्यम से 'जिन' शब्द की ही नहीं, अपितु इसके समग्र पद-समूह की व्याख्या की है—

सिद्धमणंतमणिंदियमणुवममप्यत्थ-सौक्ख-मणवज्जं ।

केवल-पहोह-णिज्जिय-दुण्णय-तिमिरं जिणं णमह । ।

इस आगमसूत्र में प्रारम्भ में 'सिद्ध' पद है, जो अनेक भावों से पूर्ण है। इसे धातु की दृष्टि से 'षिधु' धातु गमनार्थक या 'षिधु' धातु संराधन इन दोनों के अर्थ में प्रयुक्त किया है।

सहो सुखदाहदो — सकार से प्रारम्भ किए गए विवेचन से सुख ही सुख अर्थात् आत्मानन्द का कारण ही उत्पन्न होता है।

1. अनगार — ऋषि, मुनि, यति और अनगार — ये चार प्रायः एकार्थवाची शब्द हैं।

2. आगम — आगमो सिद्धतो पवयणमिदि । — (५०३३)

3. मंगल — मंगल-पुण्यं पूतं पवित्रं प्रशस्तं शिवं शुभं कल्याणं भद्रं सौख्यमित्येवमादीनि मंगलपर्यायवचनानि । —(पृ०33)

मंगल, पुण्य, पूत, पवित्र, प्रशस्त, शिव, शुभ, कल्याण, भद्र और सौख्य —ये 'मंगल' के पर्यायवाची हैं। इसी अर्थ को आधार बनाकर आचार्य वीरसेन ने प्राकृत और संस्कृत दोनों में ही मंगल की निरुक्ति भी है।

— मंगं सुखं तल्लाति आदत्त इति वा मंगलम् । —(पृ०34)

— मलं गालयति विनाशयति विध्वंसयतीति मंगलम् । —(पृ०34)

— मंगलति गच्छति कर्ता-कार्यसिद्धिनास्मिन् वेति मंगलम् । —(पृ०35)

— पावं मलं ति भण्णदि उवचारसरूवेण जीवाणं । —(पृ०35)

अनुयोग — अनुकूल-व्याख्यान का नाम 'अनुयोग' है। 'अणु' संज्ञा है।

आगमकथित सूत्र के अनन्त-अर्थ होते हैं, इसलिए सूक्ष्मरूप सूत्र के अर्थ को विस्तार-सहित प्रतिपादन करना 'अनुयोग' है।

अणियोगो य णिय्योगो भास-विभासा य वट्टिया चेष । —(पृ०155)

अनुयोगो नियोगो भाषा विभाषा वर्तिकेत्यर्थः । —(पृ०156)

अनुयोग, वियोग, भाषा, विभाषा और वर्तिका —ये अनुयोग के नाम हैं। अनुयोग की निरुक्ति में 'सूई मुद्दा पडिहो संभवदल-वट्टिया चेष' सूची, मुद्दा, प्रतिध, संभवदल और वर्तिका —ये पाँच दृष्टान्त हैं।

अरिहंत — रहस्याभावाद्वा अरिहंता, रहस्यमन्तरायः, तस्य शेषघातित्रितय-विनाश-विनाभाविनो भ्रष्टबीजवन्निःशक्तीकृतघातिकर्मणो हननादरिहंता । —(पृ०45)

'रहस्य' का अर्थ 'अभाव' है। 'रहस्य' का अर्थ 'अन्तराय' भी है। अर्थात् अन्तराय-कर्म का अभाव होना अरिहंत है।

अर्ह पूज्य, महान, अतिशय, योग्य । —(पृ०45)

इन्द्र — इन्द्र, पुरंदर, शक्र । —(पृ०90)

प्ररूपण — निर्देशः प्ररूपणं विवरणं व्याख्यानमिति । —(पृ०161)

प्ररूपण, निर्देश, विवरण और व्याख्यान प्ररूपण के नाम हैं।

मिथ्या — मिथ्या वितथा व्यलीक और असत्य एकार्थवाची शब्द हैं।

दृष्टिं — दृष्टिः रुचिः श्रद्धा प्रत्ययो । —(पृ०163-167)

दृष्टि का अर्थ रुचि, श्रद्धा और प्रत्यय है।

सिद्ध — सिद्धाः निष्ठिताः निष्पन्नाः कृतकृत्याः सिद्धसाध्या —(पृ०201)

सिद्ध, निष्ठित, निष्पन्न, कृतकृत्य और सिद्धसाध्य एकार्थवाची शब्द हैं।

वक्र — तिरो वक्रं कुटिलमित्यथेः । —(पृ०203)

तिरस्, वक्र और कुटिल ये एकार्थवाची शब्द हैं।

- वेद — वेद्यत इति वेदः —(पृ०141) जो वेदा जाए, वह वेद है, जो अनुभव किया जाए वह वेद है।
 अष्टकर्मोदस्य वेदव्यपदेशः प्राप्नोति । —(पृ०141)
 आत्मप्रवृत्तेर्मैथुन-सम्मोहोत्पादो वेदः । —(पृ०142)
 आत्मप्रवृत्तेः सम्मोहोत्पादो वेदः । —(पृ०141)
 जो आत्म-प्रवृत्ति में सम्मोह उत्पन्न करता है, वह 'वेद' है।
- योग — युज्यत इति योगः (पृ०140) जो संयोग को प्राप्त हो वह योग है।
 आत्मप्रवृत्तेः कर्मोदान-निबन्धनवीर्योत्पादो योगः । —(पृ०141)। जो
 आत्म-प्रवृत्ति के निमित्त से कर्मों के ग्रहण करने में कारणभूत वीर्य की
 उत्पत्ति है, वह 'योग' है। आत्मप्रदेशानां संकोचविलोचो योगः । —(पृ०141)
 आत्मप्रदेशों का संकोच और विस्तार 'योग' है। जीवस्स पणिओगो
 जोगो । —(पृ०141) जीव के प्रणियोग अर्थात् परिस्पन्दन का नाम योग है।
- कषाय — कृषन्तीति कषायाः —(पृ०142) कृषण करना कषाय है। कस्सेदि जीवस्स
 (पृ०143) जो जीव को कषती है, वह 'कषाय' है।
- दर्शन — यद् ग्रहणं तद्दर्शनम् —(पृ०148) जो ग्रहण होता है, वह दर्शन है।
 आलोकनवृत्तिर्वा दर्शनम् (आलोकनवृत्ति दर्शन है।)
 आत्म-व्यापार का नाम 'दर्शन' है।
 प्रकाशवृत्तिकं दर्शनम् (पृ०150) ज्ञान प्रकाश की वृत्ति 'दर्शन' है।
 विषय और विषयी के योग्य देश में होने की पूर्ववस्था का नाम 'दर्शन' है।
 ज्ञानस्योत्पादनं स्वरूपसंवेदनं दर्शनम् —(पृ०383-285)
 अविसेसिदूण अत्थे दंसणमिदि भण्णदे समए । —(पृ०150)
 समय/परमागम में स्वरूप के आभास को 'दर्शन' कहा गया।
- लेश्या — लिम्पतीति लेश्या —(पृ०150) जो लिम्पन करती है, वह 'लेश्या' है।
 आत्मप्रवृत्ति संश्लेषकरी लेश्या —(पृ०150) जो आत्मप्रवृत्ति को संश्लेष करती
 है। कषायानुविद्ध योगप्रवृत्ति का नाम लेश्या है। लिंपदि अप्पीकीरदि, एदाए
 णियय-पुण्ण-पावं च। जीवो ति होदि लेस्सा, लेस्सा-गुण-जाणय-क्खादा। ।
 —(पृ०151) जिससे पुण्य-पाप लिप्त होते हैं, आत्माधीन करते हैं, वह लेश्या
 है।
- सत् — सच्छब्दोऽस्ति शोभनवाचकः । —(पृ०160)
 'सत्' शब्द शोभन या सुन्दर अर्थ का वाचक है।
 सत् सत्त्वमित्यर्थः —(पृ०160) 'सत्' का अर्थ सत्त्व है।
 अस्ति अस्तित्ववाचकः सत् —(पृ०161) सत् अस्तित्ववाचक भी है।

- निवृत्ति — निभेदेन वृत्तिः निवृत्तिः — (पृ०184) भेदरहित वृत्ति निवृत्ति है ।
निवृत्तिर्व्यावृत्तिः — (पृ०185) व्यावृत्ति का नाम भी निवृत्ति है ।
- क्षय — उपशम, क्षपण — (पृ०219) विनाश ।
- इन्द्र — इन्द्रनादिन्द्रः आत्मा — (पृ०233) इन्द्रन, ऐश्वर्य, इन्द्र, आत्मा ।
- च — फल, योग 'च' शब्दश्च त्रय एव योगाः सन्ति नान्ये इति योग-संख्या-
नियमप्रतिपादन-फलः समुच्चार्या वा । — (पृ०280)
- सत्य — सत्यमवितथममोघमित्यनर्थान्तरम् — (पृ०282)
सत्य, अवितथ और अमोघ ये एकार्थवाची शब्द हैं ।
- पुरु — पुरुमहमुदारालं एयद्वो — (पृ०293)
पुरु, महत्, उदार और उराल — ये एकार्थवाचक शब्द हैं । समुच्चय 'अपि'
शब्दः समुच्चयार्थे दृष्टव्यः — (पृ०313)
- पुरुष — पुरु, पुरुष । पुरुगुण-भोगे सेदे करेदि लोगम्हि पुरुगुणं कम्मं । पुरु उत्तम्पे य
जम्हा तम्हा मो वण्णिदो पुरिसा ।। — (पृ०343)

'छक्खंडागम' की प्रथम पुस्तक की व्याख्या में शब्द-समूह, शब्द-विश्लेषण, व्युत्पत्ति, स्वरूप, भेद आदि का विश्लेषण तो है ही, इस प्रथम पुस्तक में विविध प्रकार की सांस्कृतिक सामग्री भी पर्याप्त रूप में विद्यमान है। व्याख्याकार धरसेन ने प्राकृत-शिक्षण की दिशा में जो पूर्व-प्रयास किया, उससे ऐसा लगता है कि वे प्राकृत की प्रतिष्ठा के साथ-साथ प्राकृत को जन-जन तक पहुँचाना चाहते थे, तभी तो सूत्र के मूल को खोलने के लिए वे प्राकृत के मूल में अपने आपको स्थापित किए हुए संस्कृत-जगत् को भी चकित करने में समर्थ हुए। उन्हें जो कुछ भी प्रतिपादन करना था, वह तो प्राकृत की गाथाओं आदि के द्वारा कर दिया और विशेष स्पष्टीकरण के लिए प्राकृत की विशालता को विशाल ही बनाए रखा।

धरसेन जैसे आचार्यों ने प्राकृत और संस्कृत दोनों विधाओं को जिस रूप में प्रयोग किया, आज उस विधा को पढ़ने की महती आवश्यकता है, उस पर चिन्तन करके इस हिन्दी-जगत् में भी प्राकृत की संजीवनी का आस्वादन कराने की पहल होना विद्वत्-समाज के लिए जितना गौरव प्रदान करेगा, उससे कहीं अधिक साहित्य-अकादमियों के बीच प्राकृत-अकादमी मात्र सम्पादन से ही अपना पिण्ड छुड़ा ले, या पुरस्कृत कर सम्मान भले ही पा ले, पर प्राकृत-रचना-धर्मिता भी अन्य-भाषाओं की तरह हो, उसे प्रोत्साहित किया जाए और उन्हें साहित्य-जगत् में भी पहुँचाया जाए। हमारे पास ऐसे कितने ही पारखी हैं, प्राकृत-विशेषज्ञ हैं, जिनको इसमें ही लगाया जाकर प्राकृत को पूर्व की तरह पहचान-पत्र दिया जा सकता है।



वीराय भगवते चतुरासीतिवसे काये ।

जालामालिनिये रंनिविठ माझमिके ।।” — (गौरीशंकर ओझा, भा.लि.) **

भारतीय संस्कृति को तीर्थकर ऋषभदेव की देन

—पद्मभूषण आचार्य बलदेव उपाध्याय

संस्कृत-साहित्य का इतिहास तथा विविध-ग्रन्थों के लेखनकार्य के समय मुझे जैनधर्म, दर्शन, साहित्य और इसके इतिहास के गहन-अध्ययन का सौभाग्य प्राप्त हुआ। इन सबके अध्ययन से जैनधर्म के प्रति काफी लगाव रहा और प्रभावित रहा हूँ। मेरे द्वारा लिखित अन्य ग्रन्थों की तरह जैनधर्म, दर्शन और साहित्य के इतिहास तथा विवेचन से संबंधित स्वतंत्र ग्रन्थ लिखने की प्रबल भावना रही, मन में इसकी पूरी रूपरेखा भी रही; किन्तु अन्यान्य-लेखन में व्यस्तता के चलते यह इच्छा अधूरी ही रही। अब इस पश्चिमवय, वह भी 98-99 वर्ष की इस उम्र में वैसा लेखन सम्भव नहीं हो पा रहा है। फिर भी जैनधर्म, प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव एवं भरत और भारतवर्ष नामकरण आदि के विषय में जनमानस को परिचित करने की दृष्टि से यह लघु-निबंध प्रस्तुत कर रहा हूँ।

जैन-परम्परा के विशाल-वाङ्मय तथा इसके प्रमुख आचार्यों में आचार्य गुणधर, पुष्पदन्त, भूतबलि, आचार्य कुन्दकुन्द, उमास्वामी, समन्तभद्र, सिद्धसेन, अकलंक, हरिभद्र, विद्यानन्द, हेमचन्द्र आदि आचार्यों के व्यक्तित्व एवं कृतित्व ने मुझे सर्वाधिक प्रभावित किया। साथ ही इसके अनेकान्तवाद, स्याद्वाद, अहिंसा, संयम, अपरिग्रह और सर्वोदय के सिद्धान्तों और श्रावक तथा श्रमण की आचार-पद्धति का मैं सदा से प्रशंसक रहा हूँ। अतः ऐतिहासिक दृष्टि से मात्र यहाँ जैनधर्म और ऋषभदेव एवं इनकी परम्परा आदि के विषय में कुछ कहना उपयुक्त होगा।

वस्तुतः भारतवर्ष के इतिहास में वैदिक और श्रमण — ये दो धार्मिक परम्परायें प्राचीनकाल से ही सर्वतोभावेन मान्य रही हैं। श्रमण-परम्परा में यद्यपि जैन और बौद्ध — ये दो धर्म मान लिये गये, किन्तु जैनधर्म काफी प्राचीन है। वैदिक-साहित्य में भी जैनधर्म और तीर्थकरों से संबंधित अनेक-उल्लेख मिलते हैं। अब तो अनेक साहित्यिक, पुरातात्विक, भाषावैज्ञानिक एवं शिलालेखी-साक्ष्यों ने इसे एक स्वतंत्र, मौलिक और प्राचीनधर्म सिद्ध कर दिया है। महात्मा बुद्ध ने स्वयं जैनधर्म की पूर्वभाविता को स्वीकार किया है।

इस धर्म के लिए 'जैन' संज्ञा तो बहुत बाद की है। इसके पहले इसके प्राचीन नाम आर्हत, श्रमण (समण), निगण्ठ इत्यादि के उल्लेख वैदिक तथा इतर-प्राचीन-भारतीय-वाङ्मय में मिलते हैं। 'निगण्ठ' शब्द 'निर्ग्रन्थ' का प्राकृत-पालिभाषा का रूपान्तर-मात्र है। 'पालि-

तिपिटकों' में वर्धमान महावीर के लिए 'निगण्ठनातपुत्त' शब्द आया है। जैनधर्म में चार प्रकार के कर्म-विजेता, त्रैलोक्यपूजित, त्रिकालज्ञ सर्वज्ञ-पुरुषों की 'अर्हत्' संज्ञा है और अर्हत् द्वारा प्रचारित होने के कारण इस धर्म का नाम 'आर्हत्' है। राग-द्वेष एवं कर्मरूपी शत्रुओं तथा इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने के कारण इन वीतरागी-महापुरुषों को 'जिन' कहा जाता है। 'जिन' शब्द 'जि' धातु से 'नङ्' उणादि-प्रत्यय के द्वारा सिद्ध होता है। 'जयतीति जिनः' अर्थात् जीतनेवाला। 'जिन' द्वारा प्रवर्तित या प्रचारित होने के कारण इस धर्म का नाम ही 'जैन' हो गया। धर्मरूपी-तीर्थ के प्रवर्तक की संज्ञा 'तीर्थकर' है।

जैनधर्म में ऋषभदेव से लेकर महावीर वर्धमान तक चौबीस तीर्थकर हुए हैं। इसके आदिप्रवर्तक तीर्थकर ऋषभदेव हैं, जिन्हें आदिदेव, आदिनाथ, आदिब्रह्मा या वृषभदेव भी कहा जाता है। जैन-मान्यतानुसार ये 'अवसर्पिणी काल' के 'प्रथम तीर्थकर' हैं, जिन्होंने सर्वप्रथम विविध ज्ञान-विज्ञान और कलाओं की शिक्षा दी थी तथा सर्वप्रथम अंसि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प — इन छह कलाओं का उपदेश देकर अच्छी समाज-व्यवस्था स्थापित की। ऋषभदेव का वेदों में उल्लेख मिलता है। 'श्रीमद्भागवत' (स्कन्ध 5, अ० 4-6) में तो इनका विस्तृत-जीवनवृत्त भी मिलता है। आप मनुवंशी-महीपति 'नाभिराज' तथा महाराज्ञी 'मरुदेवी' के पुत्र थे। ये ही 'प्रथम-तीर्थकर भगवान्-ऋषभदेव' कहलाये। इनके सौ पुत्र भी थे। इनमें प्रथम-चक्रवर्ती-सम्राट् 'भरत' तथा द्वितीय आदिकेवली महान्-तपस्वी 'बाहुबली' बहुत-प्रसिद्ध महापुरुष हुए हैं। इन्हीं बाहुबली-भगवान् की विश्व-प्रसिद्ध अद्भुत-चमत्कारी 57 फुट की विशाल-मूर्ति कर्नाटक में बैंगलोर के निकट 'श्रवणबेलगोल' नामक तीर्थस्थान के 'विन्ध्यगिरि पर्वत' पर एक हजार वर्षों से भी अधिक समय से स्थापित है।

जैनधर्म के लिए यह गौरव की बात है कि इन्हीं प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव के ज्येष्ठपुत्र 'भरत' के नाम से इस देश का नामकरण 'भारतवर्ष' इन्हीं की प्रसिद्धि के कारण विख्यात हुआ। इतना ही नहीं अपितु कुछ विद्वान् भी सम्भवतः इस तथ्य से अपरिचित होंगे कि आर्यखण्डरूप इस भारतवर्ष का एक प्राचीन-नाम नाभिखण्ड या 'अजनाभवर्ष' भी इन्हीं ऋषभदेव के पिता 'नाभिराज' के नाम से प्रसिद्ध था। ये नाभि और कोई नहीं, अपितु स्वायंभुव मनु के पुत्र प्रियव्रत के पुत्र 'नाभि' थे। नाभिराज का एक नाम 'अजनाभ' भी था। 'स्कन्द पुराण' (1/2/37/55) में कहा है— "हिमाद्रि-जलधरेन्तर्नाभिखण्डमिति स्मृतम्!" श्रीमद्भागवत में कहा है—

अजनाभं नामैतद्वर्षभारतमिति यत् आरभ्य व्यपदिशन्ति" —(5/7/3)

अर्थात् 'अजनाभवर्ष' ही आगे चलकर 'भारतवर्ष' इस संज्ञा से अभिहित हुआ।

यद्यपि आधुनिक-इतिहास की पुस्तकों में 'भारतवर्ष' — इस नामकरण की अनेक किंवदंतियाँ मिलती हैं, किन्तु उनके विशेष शास्त्रीय-प्रमाण उपलब्ध नहीं होते, जबकि पूर्वोक्त ऋषभदेव के ज्येष्ठपुत्र 'भरत' के नाम से प्रसिद्धि के अनेक ऐतिहासिक-प्रमाण वैदिक-पुराणों

में मिलते हैं। जैन-पुराणों का अध्ययन तो मेरा कम ही है, इसलिये उनके प्रमाण खोजना तो मेरे लिए इस समय कठिन है, किन्तु वैदिक-पुराणों में सम्बन्धित कुछ तथ्यों के उल्लेख मिलते हैं, उन्हें यहाँ प्रस्तुत करना अपना कर्तव्य समझता हूँ।

‘श्रीमद्भागवत्’ में कहा है कि महायोगी भरत, ऋषभ के सौ पुत्रों में से ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ थे और उन्हीं के नाम से यह देश ‘भारतवर्ष’ कहलाया—

येषां खलु महायोगी भरतो ज्येष्ठः श्रेष्ठगुण आसीत् ।

येनेदं वर्षं भारतमिति व्यपदिशन्ति ॥

—(श्रीमद्भागवत्, 5/4/9)

‘श्रीमद्भागवत’ में एक और महत्त्वपूर्ण तथ्य इसप्रकार उल्लिखित है—

तेषां वै भरतो ज्येष्ठो नारायणपरायणः ।

विख्यातवर्षमेतद् यन्नाम्ना भारतमद्भुतम् ॥ —(11/2/17)

‘अग्निपुराण’ (10/10-11) में कहा है—

जरामृत्युभयं नास्ति धर्माधर्मौ युगादिकम्,

नाधर्म मध्यमं तुल्या हिमदेशात्तु नाभितः ।

ऋषभो मरुदेव्यां च ऋषभाद् भरतोऽभवत् ॥

ऋषभोऽदात् श्रीपुत्रे शाल्यग्रामे हरिं गतः ।

भरताद् भारतं वर्षं भरतात् सुगतिस्त्वभूत् ॥

‘मार्कण्डेयपुराण’ (50/39-42) में कहा है— “स्वाम्भुव मनु के पुत्र आग्नीध्र आग्नीध्र के पुत्र नाभि, नाभि के पुत्र ऋषभ और ऋषभ के पुत्र भरत थे, जिनके नाम पर इस देश का नामकरण ‘भारतवर्ष’ हुआ—

आग्नीध्रसूनोर्नाभिस्तु ऋषभोऽभूत् द्विजः ।

ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताद् वरः ॥

सोऽभिषिञ्च्यर्षभः पुत्रं महाप्राप्राज्यमास्थितः ।

तपस्तेपे महाभागः पुलहाश्रम-संश्रयः ॥

हिमाह्वं दक्षिणं वर्षं भरताय पिता ददौ ।

तस्मात्तु भारतं वर्षं तस्य नाम्ना महात्मनः ॥

इसीतरह के अनेक प्रमाण ‘ब्रह्माण्डपुराण’ (पूर्व 2/14), ‘वायुपुराण’ (पूर्वार्ध 30/50-53), ‘नारदपुराण’ (पूर्वखण्ड 48/5-6), ‘लिंगपुराण’ (57/98-23), ‘शिवपुराण’ (37/57), ‘मत्स्यपुराण’ (114/5-6) — इन पुराणों में द्रष्टव्य होने से महत्त्वपूर्ण हैं। अन्वेषण करने पर और भी इसके प्रमाण मिल सकते हैं। इसीप्रकार ‘स्कन्धपुराण’ के माहेश्वर-खण्डस्थ ‘कौमाराखण्ड’ (37/57) में भी कहा है—

नाभेः पुत्रश्च ऋषभः ऋषभाद् भरतोऽभवत् ।

तस्य नाम्ना त्विदं वर्षं भारतं चेति कीर्त्यते ॥

जैन तथा अन्य पुराणों में भी इसीतरह के प्रमाण हो सकते हैं, किन्तु नवीं शती के सुप्रसिद्ध जैनाचार्य जिनसेन ने अपने महापुराण (17/76) में जो कहा है, उसे उद्धृत करना आवश्यक है— ततोऽभिषिच्य साम्राज्ये भरतं सूनुमग्रिमम् ।

भगवान् भारतं वर्षं तत्सनाथं व्यधादिदम् ।।

इसतरह के प्रमाणों के आधार पर अब उन लोगों की आँखें खुल जानी चाहिए, अर्थात् वे भ्रान्तियाँ मिट जानी चाहिए, जो दुष्यन्तपुत्र भरत या अन्य को इस देश के नामकरण से सम्बद्ध करते हैं। तथा विद्यालयों, कॉलेजों के पाठ्यक्रम में निर्धारित इतिहास की पुस्तकों में भी इससे संबंधित भ्रमों का संशोधन करके इतिहास की सच्चाईयों से अवगत कराना बहुत आवश्यक है। 'पुराण विमर्श' नामक अपने बहुप्रसिद्ध-ग्रन्थ के सप्तम-परिच्छेद (प्र० चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी) में मैंने इन्हीं सब प्रमाणों के अध्ययन के बाद लिखा भी था कि— 'प्राचीन निरुक्ति के अनुसार 'स्वायम्भुव मनु' के पुत्र थे 'प्रियव्रत', जिनके पुत्र थे 'नाभि'। 'नाभि' के पुत्र थे 'वृषभ', जिनके एकशतपुत्रों में से ज्येष्ठपुत्र 'भरत' ने पिता का राजसिंहासन प्राप्त किया और इन्हीं राजा भरत के नाम पर यह देश 'अजनाभवर्ष' से परिवर्तित होकर 'भारतवर्ष' कहलाने लगा। जो लोग दुष्यन्त के पुत्र भरत के नाम पर यह नामकरण मानते हैं, वे परम्परा-विरोधी होने से अप्रामाणिक हैं।

1 सितम्बर 1993 में वाराणसी के 'श्री गणेशवर्णी दिगम्बर जैन संस्थान' में एक व्याख्यानमाला का मैंने उद्घाटन करते हुए इस देश का प्राचीन नाम 'अजनाभवर्ष' का सम्बन्ध प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के पिता नाभिराज के नाम पर तथा ऋषभ के ज्येष्ठपुत्र भरत के नाम पर 'भारतवर्ष' प्रसिद्ध होने की बात कही, तो वहाँ उपस्थित अनेक उन जैनधर्मावलम्बियों तक को बहुत आश्चर्य हुआ था, जो इन तथ्यों से अपरिचित थे।

प्रथम तीर्थंकर ऋषभ के बाद तेईस तीर्थंकर और हुए। इसतरह जैनधर्म में चौबीस तीर्थंकरों की एक लम्बी परम्परा इसप्रकार है— 1. ऋषभदेव, 2. अजितनाथ, 3. संभव, 4. अभिनन्दन, 5. सुमति, 6. पद्मप्रभ, 7. सुपाश्वर्षनाथ, 8. चन्द्रप्रभ, 9. पुष्पदन्त, 10. शीतलनाथ, 11. श्रेयांसनाथ, 12. वासुपूज्य, 13. विमलनाथ, 14. अनन्तनाथ, 15. धर्मनाथ, 16. शान्तिनाथ, 17. कुन्थुनाथ, 18. अरहनाथ, 19. मल्लिनाथ, 20. मुनिसुव्रत, 21. नमिनाथ, 22. नेमिनाथ, 23. पार्श्वनाथ तथा 24. महावीर।

इन सभी तीर्थंकरों के विषय में एक बात विशेष उल्लेखनीय है, वह यह कि ये सभी तीर्थंकर 'क्षत्रिय' थे। इनमें सप्तम सुपाश्वर्षनाथ, अष्टम चन्द्रप्रभ, ग्यारहवें श्रेयांसनाथ और तेइसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ —इन चार तीर्थंकरों की जन्मभूमि का गौरव 'वाराणसी' नगरी को है। ऋषभ के बाद ऐतिहासिक तीर्थंकरों में जिनकी अधिक प्रसिद्धि है— उनमें नेमिनाथ, पार्श्वनाथ एवं चौबीसवें तीर्थंकर महावीर वर्धमान हैं। इन सबका परिचय तद्-विषयक-साहित्य में द्रष्टव्य है।



आत्मजयी महावीर

—आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी

भगवान् महावीर के 2600वें जन्मकल्याणक-वर्ष के सुअवसर पर जहाँ सब ओर से विद्वान् महावीर के जीवनचरित्र को लिखने में प्रवृत्त हैं और अनेकानेक कार्यक्रम आयोजित किये जा रहे हैं; वहीं वीतरागी भगवान् महावीर के जीवन-दर्शन को प्ररूपित करनेवाला एक निष्पक्ष प्रामाणिक विद्वान् की सारस्वत-लेखनी से प्रसूत यह आलेख निश्चय ही जिज्ञासुपाठकवृन्द को आकर्षक का केन्द्र प्रतीत होगा।

लेखन के क्षेत्र में सुपरिचित हस्ताक्षर आचार्य हजारी प्रसाद जी द्विवेदी के निबन्ध हिन्दी-साहित्य-जगत् में अतिविशिष्ट स्थान रखते हैं। इनकी विशेष बात यह होती है कि गम्भीर-विषय को भी वे रोचक भाषा-शैली में उच्चमर्यादाओं के साथ वे प्रस्तुत करते हैं। भगवान् महावीर के इस आलेख में भी उनकी विशिष्ट शैली का व्यापक प्रभाव प्रतिबिम्बित है।

—सम्पादक

जीवन-प्रेरणा के स्रोत

जिन पुनीत-महात्माओं पर भारतवर्ष उचित गर्व कर सकता है, जिनके महान् उपदेश हजारों वर्ष का कालावधि को चीरकर आज भी जीवन्त-प्रेरणा का स्रोत बने हुए हैं, उनमें भगवान् महावीर अग्रगण्य हैं। उनके पुण्य-स्मरण से हम निश्चितरूप से गौरवान्वित होते हैं। आज से ढाई हजार वर्ष पहिले भी इस देश में विभिन्न-श्रेणी का मानव-मण्डलियाँ बसती थीं। उनमें कितनी ही विकसित-सभ्यता से सम्पन्न थीं। बहुत सी अर्द्ध-विकसित और अविकसित-सभ्यतायें साथ-साथ जी रहीं थीं। आज भी उस अवस्था में बहुत अन्तर नहीं आया है, पर महावीर के काल में विश्वासों और आचारों की विसंगतियाँ बहुत जटिल थीं और उनमें आदिम-प्रवृत्तियाँ बहुत अधिक थीं। इस परिस्थिति में सबको उत्तम-लक्ष्य की ओर प्रेरित करने का काम बहुत कठिन है। किसी के आचार और विश्वास की तर्क से गलत साबित कर देना, किसी उत्तम-लक्ष्य तक जाने का साधन नहीं हो सकता; क्योंकि उससे अनावश्यक-कटुता और क्षोभ पैदा होता है।

हर प्रकार के आचार-विचार का समर्थन करना और भी बुरा होता है, उससे गलत बातों का अनुचित समर्थन होता है और अन्ततोगत्वा आस्था और अनास्था का वातावरण

उत्पन्न होता है। खण्डन-मण्डन द्वारा दिग्विजयी बनने का प्रयास इस देश में कम प्रचलित नहीं था, परन्तु इससे कोई विशेष-लाभ कभी नहीं हुआ। प्रतिद्वन्द्वी-खेमे और भी आग्रह के साथ अपनी-अपनी टेक पर अड़ जाते हैं। इस देश-के विसंगति-बहुल समाज को ठीक रास्ते पर ले आने के लिए जिन महात्माओं ने गहराई में देखने का प्रयास किया है, उन्होंने दो बातों पर सविशेष-बल दिया है।

मन, वचन, कर्म पर संयम

पहली बात तो यह है कि केवल वाणी द्वारा उपदेश या कथनी कभी उचित-लक्ष्य तक नहीं ले जाती। उसके लिए आवश्यक है कि वाणी द्वारा कुछ भी कहने के पहले वक्ता का चरित्र-शुद्ध हो। उसका मन निर्मल होना चाहिए, आचरण पवित्र होना चाहिए। जिसने मन, वचन और कर्म को संयत रखना नहीं सीखा, इनमें परस्पर-अविरुद्ध रहने की साधना नहीं की, वह जो कुछ भी कहेगा, अप्रभावी होगा।

चरित्र-बल नेतृत्व के लिए आवश्यक

हमारे पूर्वजों ने मन, वचन-कर्म पर संयम रखने को एक शब्द में 'तप' कहा है। तप से ही मनुष्य संयतेन्द्रिय या जितेन्द्रिय होता है, तप से ही वह 'वशी' होती है, तप से ही वह कुछ कहने की योग्यता प्राप्त करता है। विभिन्न-प्रकार के संस्कारों और विश्वासों के लोग तर्क से या वाग्मिता से नहीं, बल्कि शुद्ध, पवित्र, संयत-चरित्र से प्रभावित होते हैं। युगों से यह बात हमारे देश में बद्धमूल हो गई है। इस देश के नेतृत्व का अधिकारी एक मात्र वही हो सकती है, जिसमें चरित्र का महान् गुण हो। दुर्भाग्यवश वर्तमानकाल में इस ओर कम ध्यान दिया जा रहा है। जिसमें चरित्रबल नहीं, वह देश का नेतृत्व नहीं कर सकता।

भगवान् महावीर जैसा चरित्र-सम्पन्न, जितेन्द्रिय, आत्मवशी महात्मा मिलना मुश्किल है। सारा जीवन उन्होंने आत्म-संयम और तपस्या में बिताया। उनके समान दृढ़-संकल्प के आत्मजयी-महात्मा बहुत थोड़े हुए हैं। उनका मन, वचन और कर्म एक दूसरे के साथ पूर्ण सामंजस्य में थे। इस देश का नेता उन्हीं जैसा तपोमय महात्मा ही हो सकता था। हमारे सौभाग्य से इस देश में जितेन्द्रिय-महात्माओं की परम्परा बहुत विशाल रही है। इस देश में तपस्वियों की संख्या सदा बहुत रही है। केवल चरित्र-बल ही पर्याप्त नहीं है। इसके साथ और कुछ भी आवश्यक है।

अहिंसा, अद्रोह और मैत्री

यह और कुछ भी हमारे मनीषियों ने खोज निकाला था। वह था अहिंसा, अद्रोह और मैत्री। अहिंसा परमधर्म है, वह सनातन धर्म है, वह एकमात्र धर्म है, आदि बातें इस देश में सदा मान्य रही हैं। मन से, वचन से, कर्म से अहिंसा का पालन कठिन-साधना है। सिद्धान्तरूप से प्रायः सभी ने इसे स्वीकार किया है; पर आचरण में इसे सही-सही उतार

लेना कठिन-कार्य है। शरीर द्वारा अहिंसा-पालन अपेक्षाकृत आसान है, वाणी द्वारा कठिन है और मन द्वारा तो नितान्त-कठिन है। तीनों में सामञ्जस्य बनाये रखना और भी कठिन साधना है।

इस देश में 'अहिंसा' शब्द को बहुत अधिक महत्त्व दिया जाता है। यह ऊपर-ऊपर से निषेधात्मक शब्द लगता है; लेकिन यह निषेधात्मक इसलिए है कि आदिम सहजात-वृत्ति को उखाड़ देने से बना है। अहिंसा बड़ी कठिन-साधना है। उसका साधन संयम है, मैत्री है, अद्रोह-बुद्धि है और सबसे बढ़कर अन्तर्नाद के सत्य की परम-उपलब्धि है। अहिंसा कठोर-संयम चाहती है, इन्द्रियों और मन का निग्रह चाहती है, वाणी पर संयत-अनुशासन चाहती है और परम-सत्य पर सदा जमें रहने का आविस्वादिनी-बुद्धि चाहती है।

सबसे बड़े अहिंसा व्रती

भगवान् महावीर से बड़ा अहिंसाव्रती कोई नहीं हुआ। उन्होंने विचारों के क्षेत्र में क्रान्तिकारी अहिंसकवृत्ति का प्रवेश कराया। विभिन्न विचारों और विश्वासों के प्रत्याख्यान में जो अहंकारभावना है, उसे भी उन्होंने पनपने नहीं दिया। अहंकार अर्थात् अपने आप को जगह प्रवाह से पृथक् समझने की वृत्ति बहुतप्रकार की अहिंसा का कारण बनती है। सत्य को 'इदमित्थं' रूप में जानने का दावा भी अहंकार का ही एक रूप है। सत्य अविभाज्य होता है और उसे विभक्त करके देखने से मत-मतांतरों का आग्रह उत्पन्न होता है। आग्रह से सत्य के विभिन्न-पहलू ओझल हो जाते हैं।

सम्पूर्ण मनीषा को नया मोड़

मुझे भगवान् महावीर के इस अनाग्रहीरूप में जो सर्वत्र सत्य की झलक देखने का प्रयास है, परिवर्तीकाल के अधिकारी-भेद, प्रसंग-भेद आदि के द्वारा सत्य को सर्वत्र देखने का वैष्णव-प्रवृत्ति का पूर्वरूप दिखाई देता है। परवर्ती जैन-आचार्य ने स्याद्वाद के रूप में इसे सुचिंतित दर्शनशास्त्र का रूप दिया और वैष्णव-आचार्यों ने सब को अधिकारी-भेद से स्वीकार करने की दृष्टि दी है। भगवान् महावीर ने सम्पूर्ण भारतीय मनीषा को नये ढंग से सोचने की दृष्टि दी है। इस दृष्टि का महत्त्व और उपयोगिता इसी से प्रकट होती है कि आज घूम फिरकर संसार फिर उसी में कल्याण देखने लगता है।

सत्य और अहिंसा पर उनको बड़ी दृढ़ आस्था थी। कभी-कभी उन्हें केवल जैनमत के उस रूप को जो आज जीवित है, प्रभावित और प्रेरित करनेवाला मानकर उनकी देन को सीमित कर दिया जाता है। भगवान् महावीर इस देश के उन गिने-चुने महात्माओं में से हैं, जिन्होंने सारे देश की मनीषा को नया मोड़ दिया है। उनका चरित्र, शील, तप और विवेकपूर्ण विचार, सभी अभिनन्दनीय हैं। ❖❖

“ब्राह्मी परब्रह्मसम्बन्धिनी सरस्वती वेदपुराणादिरूपा विद्या।” — (टिप्पणी)

भारतीय संस्कृति में गाय

—डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल

विगत अंक के सम्पादकीय लेख में 'गौ' शब्द की विवेचना के सम्बन्ध में सुधी-पाठकों के बहुत पत्र आये थे। बाद में अध्ययनक्रम में 'गाय विषयक यह आलेख हाथ लगा, जो कि स्वनामधन्य विद्वद्वरेण्य डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल जी की पवित्र लेखनी से प्रसूत है। डॉ० अग्रवाल जी भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के अतिविशिष्ट मनीषी थे। उनका यह आलेख सन् 1979 में पृथिवी-प्रकाशन, वाराणसी के द्वारा प्रकाशित कृति 'भारतीय धर्म-मीमांसा' से उद्धृत है। 'प्राकृतविद्या' के जिज्ञासु-पाठकों के लिए यह आलेख अवश्य रुचिकर लगेगा—इसी आशा के साथ यहाँ प्रस्तुत है।

—सम्पादक

भारतीय-संस्कृति में गौ-तत्त्व की बड़ी महिमा है। जिस गौ-पशु को हम लोक में प्रत्यक्ष देखते हैं, वह दूध देनेवाले प्राणियों में सर्वश्रेष्ठ है। दुग्ध अमृत-भोजन है। वह जीवनभर मनुष्य की देह को सींचता है। भारतीय जलवायु में गोरस-युक्त भोजन ही मानव-शरीर का सर्वोत्तम पोषक है। वह स्थूल-अन्न के साथ मिलकर भोजन में पोषक-तत्त्वों की संपूर्णता प्रदान करता है। पाँच-सहस्र-वर्षों के राष्ट्रीय-अनुभव का निचोड़ यही है कि घी, दूध, दही, मट्ठा भारत की शीतोष्ण-जलवायु में आयुष्य, बल, बुद्धि और ओज की वृद्धि के लिए साक्षात्-अमृत है। लोकोक्ति तो यहाँ तक कहती हैं कि 'तक्र में जो गुण है, वह इन्द्र के राजसी-भोजन में भी नहीं है।' (तक्रं शक्रस्य दुर्लभम्)। विदुर का कथन है कि जिसके पास गौ है, उसने भोजन में उत्तम-रस का आनन्द पा लिया। —(समाशा गोमता जिता, उद्योगपर्व 34-45)

स्थूल-दृष्टि से कृषि के लिये भी गौ का अनन्त-उपकार है। एक ओर गौ के जाए बछड़े हल खींचकर खेतों को कृषि के लिये तैयार करते हैं, दूसरी ओर गौ का गोबर भूमि की उर्वरा-शक्ति को बढ़ाने के लिये श्रेष्ठ-खाद है, जो सड़-फूलकर रश्मियों के प्रकाश और जीवाणुओं से उसे भर देती है। 'कृषि' यहाँ का राष्ट्रीय-धन्धा है। कृषि से ही भारत में जीवन की सत्ता है। जैसा कहा है—

“राजां सत्त्वे ह्यसत्त्वे वा, विशेषो नोपलक्ष्यते।

कृषीबलविनाशे तु, जायते जगतो विपत् ॥”

अर्थात् राजाओं के उलट-फेर से कोई विशेष-घटना नहीं घटती। पर यदि किसान का

हास होता है, तो सारे जनसमुदाय में विपत्ति छा जाती है।

व्यास जी ने तो यहाँ तक कहा है कि जो किसान नहीं है, या किसानी का धन्धा नहीं जानता, उसे उस राष्ट्र की समिति का सदस्य नहीं होना चाहिए—

“न नः स समितिं गच्छेद्यश्च नो निर्वपित् कृषिम्।” —(उद्योगपर्व 26/31)

जो किसान का धन्धा नहीं जानते, वे उसका सच्चा हित-अनहित भी नहीं पहचान सकते। अतएव भारतीय-संस्कृति में कृषि-महिमा और गो-महिमा दोनों पर्यायवाची हैं। कृषि से गो-रक्षा और गो-रक्षा से कृषि का संवर्धन स्वयंसिद्ध है।

गौ सबप्रकार की अर्थ-सिद्धियों का द्वार है, इस तत्त्व को भारतीय-संस्कृति में 'गौ' के अनेक प्रतीकों से पल्लवित किया गया है। उदाहरण के लिये 'गौ' शब्द के कई अर्थ हैं। भूमि गौ है, विद्या और वाणी गौ हैं, शरीर में इन्द्रियाँ गौ हैं और विराट्-विश्व में सूर्य और चन्द्र की रश्मियाँ गौ हैं। विश्व-रचना में प्रजापति की जो आद्या-शक्ति है, वह गौ है। इसप्रकार गौ के प्रतीक द्वारा जीवन की बहुमुखी-सम्पन्नता को प्रकट किया गया। जंगल में मेघों के जल से जो तृण उत्पन्न होते हैं, वे जल का ही रूप हैं। उस नीररूपी घास को खाकर गौ सायंकाल जब घर लौटती है, तो उसके थन दूध से भर जाते हैं। नीर का क्षीर में परिवर्तन, यही गौ की दिव्य-महिमा है। पर ऐसा तभी होता है, जब गर्भ-धारण करके वह बच्चे को जन्म देती है। उसके हृदय में जो माता का स्नेह उमड़ता है, वही जल में घुलकर उसे दूध बना देता है। सचमुच माता के हृदय की यह रासायनिक-शक्ति प्रकृति का अन्तरंग-रहस्य है। मानव की माता में अथवा संसार की सब माताओं के हृदय के यही स्नेह-तत्त्व भरा होता है। दोनों में ही उत्पादन या नये-नये प्रजनन की अपरिमित-क्षमता पायी जाती है। गौ की वंश-वृद्धि अत्यन्त विपुल होती है।

भूमि में एक बीज के विआसने से जो पूँजा निकलता है, उससे सैकड़ों दाने उत्पन्न होते हैं। ऐसे ही वाणी-रूपी गौ से प्राप्त होनेवाला ज्ञानरूपी दूध भी अनन्तफल देता है। एक सच्चे तपस्वी आचार्य या गुरु की वाणी से जो ज्ञान फैलता है, उससे होनेवाले लोक-कल्याण का अन्त नहीं है। ज्ञान का यह सूत्र देश और काल में अनन्त है। प्रत्येक पीढ़ी अपने पूर्वजों से इस निधि को प्राप्त करती हुई स्वयं भी इसे बढ़ाने का उद्योग करती है। वाणी-रूपी गौ का ज्ञानरूपी दुग्ध जब मनुष्य का मनरूपी बछड़ा पीता है, तो उसमें नये प्राण का संचार हो जाता है। अच्छे नेता की वाणी-रूपी कामधेनु के दुग्ध से राष्ट्र का जीवन अमर बनता हुआ देखा जाता है। इस गौ के प्रभाव की कोई सीमा नहीं है। यक्ष ने युधिष्ठिर से प्रश्न किया कि “संसार में प्रत्येक वस्तु की सीमा है, पर क्या ऐसी भी कोई वस्तु है, जिसके प्रभाव की माप नहीं है?” युधिष्ठिर ने यही उत्तर दिया—“गोस्तु मात्रा न विद्यते”, अर्थात् सबकी मात्रा है, सीमा है; पर गौ की नहीं। एक आम के बीज से जो वृक्ष होता है, उसमें सैकड़ों मन आम लगते हैं और यदि उन सब गुठलियों को बोया जाये, तो सारी भूमि ही

आम्रमय बन जाये। इसप्रकार भूमि-रूपी गौ की मात्रा नहीं आँकी जा सकती। ऐसे ही पशु-रूपी गौ दस वर्ष में एक से दस, दस से सौ और सौ से सहस्र बन जाती है। विद्या-रूपी गौ का उत्पादन तो अनन्त ही है। उससे भी असीम और अपार उस विश्वशक्ति का प्रजनन है, जिसे वेदों में और पुराणों में कामदुधा या कामधेनु, विश्वधात्री और विश्वरूपा गौ कहा गया है। जितना विश्व है, सब उसी से जन्म लेता है। वह सबकी माता है। स्वयं प्रजापति-पुरुष उसका पति है, जिसकी अनन्तवर्ष-शक्ति से यह विश्वात्मिका-कामधेनु शाश्वतकाल और देश में गर्भित होती है। इस गौ का ही एक नाम 'विराज' है। यह 'कामदुधा' है। प्रत्येक व्यक्ति के मन में जो कामना है, वही इसका दुग्ध है। जो जैसा चाहता है, वैसा प्राप्त करता है। यही जीवन का नियम है। जिसकी जैसी श्रद्धा है, वही उसका रूप है। सब कामनाओं की समष्टि या सब इच्छाओं का समूह विश्व की इस बड़ी कामधेनु का दुग्ध है। उसी का भोग सब मानव प्राप्त करते हैं। जीवन का 'स्वस्तिक' इसके चार धनों से पुष्ट होता है।

यह ऋषियों को ज्ञान, देवों को अमृत या प्राण, पितरों को सोम¹ और मनुष्यों को अन्न से तृप्त करती है। वेदों में कहा है कि इस 'कामधेनु' या 'कामगवी' के सहस्ररूप हैं, जो प्रत्येक व्यक्ति में निवास करते हैं। हमारे मन के विचार और प्राणों की क्रियायें या वृत्तियाँ उनमें से 999 गउयें हैं। वह जो अन्तिम एक गौ है, वही हृदय में स्थित ईश्वर-तत्त्व की एक रश्मि या ज्योति है, जो शतायु-जीवन का संचालन करती है। इस गौ को सब देवों की माता 'अदिति' भी कहा गया है। अमृत का प्रसव करनेवाली यह स्वयं भी अमर है। इसे 'अध्या' या 'अवध्य' कहा गया है। मनुष्य को चाहिये कि अपने ज्ञान और कर्म के सब व्यवहारों में इसप्रकार बरते कि जीवन में भरे हुए गौ-तत्त्व का कल्याण हो।

धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, इस गौ के चार धन हैं। उनके दूध से मिलनेवाला पोषण ही जीवन का बल है। इस पुष्टि से तृप्त होनेवाला बछड़ा प्रत्येक व्यक्ति का मन है। जन्म लेकर कोई भी इस गौ का दुग्ध पिये बिना नहीं रह सकता। वही कुशल वत्स है, जो इस माता के चारों धनों के दुग्ध का लाभ उठाता है। उसे ही माता से मिलनेवाले वरदान का पूरा फल मिलता है। आदर्श सांस्कृतिक-जीवन वही है, जिसमें इस दुग्ध का पूरा पान किया जाये, अधूरा नहीं। —(साभार उद्धृत, भारतीय धर्म-मीमांसा, पृष्ठ 128-129) ❖❖

1. सुधासूते सुधोत्पत्तिः।

“वर्णाश्चत्वार एते हि येषां ब्राह्मी सरस्वती।

विहिता ब्रह्मणा पूर्वं लोभादज्ञानतां गताः॥”

—(महाभारत, शांतिपर्व, मोक्षधर्म, 12/18/15,

पूना संस्करण, 1954, पृ० 1025) ❖❖

मांसाहार : एक समीक्षा

—आचार्य महाप्रज्ञ

प्रो० डी०एन० झा की पुस्तक से उत्पन्न विवाद एवं विभोभ से सम्पूर्ण जैनसमाज विक्षुब्ध रहा है। वस्तुतः यह पुस्तक सतही प्रचार पाने की दृष्टि से लिखी गयी थी और इसका उद्देश्य उन विदेशी कंपनियों और पाश्चात्य धर्मों को संबल प्रदान करना था, जो भारत में मांसाहार का प्रचार-प्रसार कर यहाँ की संस्कृति को विकृत करना चाहते हैं। भारतीय संस्कृति के महापुरुषों को मांसाहारी सिद्ध करने की चेष्टा के पीछे यही अभिप्राय था कि अपने महापुरुषों को मांसाहारी जानने के बाद भारत की जनता मांसाहार को अपना आदर्श-भोजन मानने में आपत्ति नहीं करेगी। संभवतः प्रो० डी०एन० झा भी अपने पूज्य महापुरुषों को मांसाहारी नहीं मानते होंगे। फिर भी अर्थलोभ एवं प्रचार के आकर्षण में वे ऐसा लिख बैड़े हैं, जिससे बहुत भ्रम फैल सकता है भगवान् महावीर के बारे में यह भ्रम श्वेताम्बर जैन-परम्परा के ग्रंथ 'भगवती सूत्र' के एक उल्लेख के आधार पर फैलाया गया था, क्योंकि दिग्म्बर-परम्परा के ग्रंथों में तो भगवान् महावीर के बारे में ऐसी भ्रामक कल्पना भी कहीं नहीं की गयी है। अतः श्वेताम्बर भगवान् महावीर के बारे में ऐसी भ्रामक कल्पना भी कहीं नहीं की गयी है। अतः श्वेताम्बर जैन-परम्परा के वर्तमान एक प्रामाणिक आचार्य द्वारा इस विषय में जो स्पष्टीकरण प्रस्तुत किये गये हैं, वे 'प्राकृतविद्या' के जिज्ञासु पाठकों के लिए मननार्थ प्रस्तुत हैं।

—सम्पादक

दिल्ली विश्वविद्यालय के प्रो० डी०एन० झा द्वारा लिखित "Holy cow - beef in Indian Dietary Conditions" पुस्तक में अनेक धर्मों के प्रमुख महापुरुषों का आहार-संबंधी विवरण दिया है, उसमें भगवान् महावीर के मांसाहार का भी उल्लेख किया गया है। इस विषय में पहले हम विद्वान् लेखक को कुछ कहना चाहते हैं। उन्होंने कुछ पुस्तकों के आधार पर भगवान् महावीर के मांसाहार की धारणा बना ली और अपनी पुस्तक में उसका उल्लेख कर दिया। यह शोधपूर्ण प्रामाणिक-इतिहास का तरीका नहीं है। पुस्तक के लेखक को प्रामाणिक मूल-स्रोतों से सही-तथ्य को जानना चाहिए। सही-जानकारी के बाद वे लिखते, तो अहेतुक-विवाद खड़ा नहीं होता तथा जैन-समाज में भी आक्रोश का वातावरण नहीं बनता।

भगवान् महावीर की जन्म-जयंती का वर्ष, उसके साथ घोषित हुआ है 'अहिंसा वर्ष'।

हमारा कर्तव्य है कि हम इस अप्रिय-घटना का प्रतिवाद अहिंसात्मक-तरीके से करें। आज की प्रतिवाद करने की हिंसात्मक या उत्तेजनात्मक-शैली हमारे लिए उचित नहीं होगी।

सही-तथ्यों की जानकारी कराने पर विद्वान्-लेखक पुस्तक को वापिस ले लेता है, तो अच्छी बात। यदि नहीं लेता है, तो फिर इसके विषय में उचित-कार्यवाही के बारे में सोचा जाना चाहिए।

एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं और उसका अनेक संदर्भों में प्रयोग होता है 'काव्यानुशासन' आदि साहित्य के लाक्षणिक-ग्रन्थों में उसका बहुत सुन्दर विवेचन मिलता है। यदि भोजन करते समय कोई आदमी कहे कि "सैन्धव लाओ", तो वहाँ एक समयज्ञ-व्यक्ति सैन्धव-घोड़ा (सिंधु देश का उत्तम घोड़ा) लाकर खड़ा नहीं करेगा; किन्तु वह सैन्धव-नमक (सैन्धा नमक) लाकर उपस्थित कर देगा। चिकित्सा के सन्दर्भ में विचार करते समय आयुर्वेद में प्रयुक्त शब्दों के अर्थों पर ध्यान देना आवश्यक है।

कपोत-शरीर

'संस्कृत-शब्दकोश' के अनुसार 'कपोत' कबूतर का वाचक है। 'आयुर्वेदीय-शब्दकोश' के अनुसार कपोत का एक पर्यायवाची नाम 'पारावत' है। 'पारावत' के फल कबूतर के अण्डों के समान होते हैं। 'पारावतपदी' आयुर्वेद में 'काकमजंघा' को कहते हैं। 'धन्वन्तरि निघण्टु' (पृ० 189) में काकजंघा को काकमाची-विशेष माना है। 'काकमाची' शब्द 'मकोय शाक' का वाचक है।

“साराम्लकः सारफलो रसालश्च पारावतः ।” —(325)

“कपोताण्डोपमफलो महापारावतोऽपरः ॥” —(कैयदेव निघण्टु, औषधिवर्ग, पृ० 62)

“काकजंघा ध्वंक्षजंघा, काकपादा तु लोमशा ।

पारावतपदी दासी, नदीक्रांता प्रचीबला ॥”

—(धन्वन्तरि निघण्टु, 4/20, पृ० 186)

वनस्पतिशास्त्र में 'कपोता, कपोतवेगा, कपोतवल्ली' जैसे शब्दों का प्रयोग मिलता है—
कपोता, कपोती - सर्पाक्ष्यादिगणे रसौषधिविशेषः ।

कपोतवेगा - ब्राह्मी ।

कपोतवल्ली - सूक्ष्मैला । —(द्रव्यगुणकोषः, पृ० 39)

वनस्पतिशास्त्र में 'पारावतपदी' का प्रयोग काकजंघा, ज्योतिष्मती और हंसपदी भेद के लिए हुआ है। (द्र० द्रव्यगुणकोषः, पृ० 112) 'भावप्रकाश निघण्टु' के अनेकार्थ-नामवर्ग में भी इसका प्रयोग 'ज्योतिष्मती' (मालकांगनी) के लिए हुआ है।

—(भावप्रकाशनिघण्टु, पृ० 799)

उसके अनुसार 'पारावतपदी काकजंघा-मकोय' विषमज्वरनाशक, कफपित्तशामक, चर्मरोगनाशक है।

“काकजंघा हिमा तिक्ता कषाया कफपित्तजित् ।

निहन्ति ज्वरपित्ताम्रवणकण्डूविषकृमीन् ॥

—(भाव प्रकाश निघण्टु, पृ० 441)

आगम-साहित्य में 'वनस्पति' के साथ 'शरीर' शब्द का प्रयोग किया जाता है— पुढवी-सरीरं, आउ-सरीरं, तेउ-सरीरं, वाउ-सरीरं, वणस्सइ-सरीरं ।

—(सूयगडो, 2/3/36) ।

माजौर

'संस्कृत-शब्दकोश' के अनुसार 'मार्जार' शब्द बिल्ली का वाचक है । 'आयुर्वेदीय-शब्दकोश' के अनुसार 'मार्जार' शब्द 'चित्रक' का वाचक है ।

“कालो व्यालः कालमूलोऽपि दीप्यो, मार्जारोग्निदाहकः पावकश्च ।

चित्रांगोऽयं रक्तचित्रो महांगः, स्यद्ब्रुदाहश्चित्रकोन्यो गुणादयः ॥ ।

—(राजनिघटुवर्ग, 6/46, पृ० 143)

आयुर्वेद में 'चित्रकूल' का प्रयोग सततज्वर में किया जाता है ।

कुक्कुट

'संस्कृत-शब्दकोश' के अनुसार 'कुक्कुट' मुर्गे का वाचक है । आयुर्वेदीय शब्दकोश के अनुसार 'कुक्कुट' शितिवार (चोपतिया शाक) का वाचक है—

“शितिवारः शितिवरः स्वस्तिकः सुनिषण्णकः ।

श्रीवारकः सूचिपत्रः पर्णकः कुक्कुटः शिखी ॥ ।”

—(भावप्रकाश-निघण्टु, शाकवर्ग, पृ० 673-674)

वनस्पतिशास्त्र में 'शितिवार' के लिए 'कुक्कुट' का प्रयोग हुआ है—“कुक्कुटः शितिवारः मुर्गा इति लोके । कुक्कुटचूडावत् पुष्पव्यूहत्वात् ।”

—(द्रव्यगुणकोषः, पृ० 43; धन्वन्तरिनिघण्टु, 1/155)

'शितिवार' का प्रयोग दीपन और अग्निमांघ को दूर करने के लिए किया जाता है । इसका शाक त्रिदोषघ्न और ज्वरनाशक है ।

मांस

आयुर्वेदीय-ग्रन्थों में 'छाल' के लिए 'त्वचा' और 'गूदे' के लिए 'मांस' शब्द का प्रयोग किया जाता है । 'अष्टांग-संग्रह' में 'भिलावे के गूदे' के लिए 'मांस' शब्द का प्रयोग किया गया है—

कैयदेव निघण्टु में भी गूदे के लिए 'मांस' शब्द का प्रयोग मिलता है—

“उष्ण-वात-कफ-श्वास-कास-तृष्णा-वमिप्रणुत ।

तस्य त्वक् कटु तिक्तोष्णा, गुर्वी स्निग्धा च दुर्जरा ॥ ।

कृमि श्लेष्मानिलहरः मांसं स्वादु हिमं गुरु।
बृंहणं श्लेष्मलं स्निग्धं पित्तमारुतनाशनम् ॥”

—(कैयदेव-निघण्टु, औषधिवर्ग श्लोक 255, 256)

वनस्पतिशास्त्र में मांसल फल का मतीरे के अर्थ में प्रयोग हुआ है—

“मांसलफलः कालिन्दी।”

अनेक शब्द ऐसे हैं, जिनका प्रयोग प्राणिशास्त्र और वनस्पतिशास्त्र — दोनों में समानरूप से हुआ है।

यदि शास्त्रीय-संदर्भ के बिना उनका अर्थ किया जाये, तो असमंजस की स्थिति पैदा हो सकती है। इस विषय में असमंजस का हेतु है, आचार-शास्त्रीय संदर्भ के बिना किया जानेवाला शब्द का अर्थ।

संदर्भ आचार शास्त्र का

‘मुनि’ के लिए अनेक-विशेषणों का प्रयोग किया गया है, उनमें एक विशेषण है ‘अमज्जमंसासी’ अर्थात् मद्य-मांस का वर्जन करनेवाला। जैन-श्रावक भी मद्य-मांस का प्रयोग नहीं करते थे। ‘सूत्रकृतांग’ में जीव और शरीर को एक मानने का एक दार्शनिक-पक्ष है। उस पक्ष के विषय में विमर्श करते हुए जैन-श्रावकों ने कहा—“यदि पुनर्जन्म नहीं है, तो हम मद्य-मांस का वर्जन करते हैं, उपवास करते हैं, वह हमारी क्रिया निरर्थक हो जाएगी।”

मुनि और श्रावक दोनों ही मद्य-मांस का सेवन नहीं करते थे। इस अवस्था में तीर्थंकर महावीर द्वारा मांस-सेवन की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

सन्दर्भ-ग्रंथ

1. (क) सूत्रकृतांग, 2/2/66। (ख) प्रश्नव्याकरण, 6/6। (ग) दशवैकालिक चूलिका, 2/7।
2. वृहत्कल्पभाष्य, गाथा 1141।
3. सूत्रकृतांग चूर्णि, पृष्ठ 316 — इहरहा हि मज्ज मंसं परिहरामो उववासं करेमो णिरत्थयं चेव।
4. भगवई वृत्ति, पत्र 691।



व्यवहारनय अभूतार्थ है

“व्यवहारोऽभूतार्थो भूतार्थो देशितस्तु शुद्धनयः।

शुद्धनयमाश्रिता ये प्राप्नुवन्ति यतयः पदं परमम् ॥”

—(पद्मनादिपंचविंशति निश्चयपंचाशत 11 अधिकार)

अर्थ :— व्यवहारनय अभूतार्थ कहा गया है और शुद्धनय भूतार्थ कहा गया है। जो यतिगण शुद्धनय का आश्रय लेते हैं, वे उत्कृष्ट पद (मोक्ष) को प्राप्त करते हैं। अतः जिन्हें व्यवहारनय को अभूतार्थ मानने में आपत्ति है और जो इसे अपना प्रतिष्ठा का प्रश्न बना रहे हैं, वे विचारें कि ऐसा पूर्वाग्रह उन्हें सम्पूर्ण आगम-परम्परा और आचार्य-परम्परा के विरुद्ध खड़ा कर देगा।

प्राकृत-ग्रंथों में जिन-साधुओं का निवास और विहार-चर्या का स्वरूप

—डॉ० राजेन्द्र कुमार बंसल

दिगम्बर-श्रमणचर्या अपने आप में अत्यन्त कठिन है तथा इसका विशद-प्ररूपण जैन-आगम-ग्रन्थों में एवं आचारमूलक-साहित्य में प्रचुर-परिमाण में प्राप्त होता है। जहाँ एक ओर यह प्ररूपण श्रमणचर्या की निस्पृहता एवं वैशिष्ट्य को बताता है, वहीं इसकी व्यावहारिक प्रयोगविधि का भी इससे सम्यक्-प्रतिबोध होता है।

विश्वभर के दार्शनिक एवं आचारपरक-साहित्य में जैन-श्रमणचर्या का दार्शनिक एवं प्रायोगिक-पक्ष सदैव से आकर्षण एवं उत्सुकता जागृत करता रहा है। इसका संक्षिप्त, संतुलित एवं प्रेरणास्पद प्रस्तुतीकरण प्रस्तुत आलेख में हुआ है।

—सम्पादक

जिनेन्द्रदेव के शासन में 'मार्ग' और 'मार्गफल' —ये दो कहे हैं। 'मगो खलु सम्मत्तं, मग्गफलं होदि णिव्वाणं' निश्चयरूप से 'सम्यक्त्व' मार्ग है, और उसका फल 'निर्वाण' है।¹ वीतरागता की प्राप्ति-हेतु जिनशासन में सम्यक्त्वधारी साधु-संघ का महत्त्वपूर्ण-स्थान है। गृहत्याग कर श्रमणत्व वही स्वीकारता है, जिसके अंतरंग में मिथ्यात्व और क्रोधादि तीन कषाय-चौकड़ी का उपशम या क्षय हो गया हो, तथा जो बाह्य में सर्वपरिग्रह से रहित हो। सम्यक्त्वधारी-पुरुष ही चारित्रवान् होता है। आगम में 'अकसायं तु चरित्तं' अर्थात् कषाय रहित होना 'चारित्र' कहा है। कषाय के वश में हुआ जीव असंयत होता है। जिस काल में उपशमभाव को प्राप्त होता है, उस काल में वह संयत होता है।²

आत्मशोधन की दृष्टि से साधुत्व एक अतिविशिष्टता है। वह आरोपित न होकर सहज होता है। जब किसी भव्य महानुभाव में आत्मकल्याण एवं आत्माराधन की भावना प्रबल होती है, तभी वह विषय-भोगों एवं संसार से विरक्त होकर परिवार की स्वीकृति-सहित दीक्षा-ग्रहण कर कषायों का उपशम/क्षय करने-हेतु साधुत्वपना अंगीकार करता है। वह देश-काल से प्रभावित हुए बिना परमार्थरूप से जिनेश्वरी-मार्ग अंगीकार कर कारण-परमात्मा के आश्रय से कार्य-परमात्मा होने हेतु उद्यत रहता है। इसीकारण ऐसे साधुजन परम-दिगम्बर, निस्पृही, निर्मोही, अपरिग्रही, वीतरागी हो भगवत्-स्वरूप पूज्य और नवधाभक्ति के पात्र एवं वंदनीय होते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द उपनाम वट्टकेर ने 'मूलाचार' में तथा

आचार्य शिवकोटि ने 'भगवती आराधना' में साधुओं के अंतर-बाह्य स्वरूप, आचार-व्यवहार एवं चर्या का विस्तृत-वर्णन किया है, जो आत्मार्थीजनों को मूलतः पठनीय और मननीय है। प्रस्तुत आलेख में साधु-संघ के निवास, निवास की अवधि एवं विहार आदि का वर्णन किया है, जो इसप्रकार है—

साधु-संघ का निवास-स्थल और निवास-काल

आत्मशोधन की जैन-दार्शनिक-प्रक्रिया पूर्णतः मनोवैज्ञानिक, व्यवहारिक और आत्माभिमुखी है। इसमें मानवीय कमजोरियों का विधान किया है। एकाकी पुरुष स्वच्छंदी हो जाता है और मानवीय कमजोरियों का सहज ही शिकार हो जाता है अतः श्रमणों को संघ में रहने और संघ विहार करने की जिनेश्वरी आज्ञा है।

'मूलाचार' के 'अनगारभावनाधिकार' के अनुसार साधु शरीर से निर्मम होने से आवास रहित हैं। जहाँ सूर्य अस्त होता है, वहीं ठहर जाते हैं, किसी से प्रतिबद्ध नहीं हैं। वे बिजली के समान दिखते और चले जाते हैं।³ वर्षायोग के (चातुर्मास के) अपवाद को छोड़कर साधु धैर्यवान प्रासुक-विहारी हैं और स्त्री, पशु तथा नपुंसक आदि से वर्जित एकान्त-प्रदेश में निवास करते हैं।⁴ 'मूलाचार' की मूल-गाथा इसप्रकार है :—

गामेयरादिवासी ण्यरे पंचाहवासियो धीरा ।

सवणा फास-विहारी विवित्त-एगंतवासी य । ।

एक स्थान पर अधिक समय ठहरने से 'औद्देशिक' आदि का दोष आते हैं और स्थान से मोह भी हो जाता है। साधुओं का विहार 'अनियत' कहलाता है। 'मूलाचार' की गाथा 911 में श्रमणों के 'दश कल्प' बताये हैं। इनमें एक 'मास-कल्प' है। इसके अंतर्गत लोकस्थिति एवं अहिंसादि-व्रतों के पालनार्थ वर्षायोग-ग्रहण के एक-मास-पूर्व या एक-मास-बाद तक ठहरा जा सकता है। इसीप्रकार प्रत्येक ऋतु में एक-एक मास पर्यंत किसी-स्थान पर ठहर कर दूसरे मास में विहार करना चाहिये। इसे 'मासैकवासता' कहते हैं। कल्प-परिस्थितिजन्य- विकल्प या गुण-दोषानुसार निर्णय का सूचक है।

साधु-संघ एकान्त-वसतिका, पर्वत के तट, कटक, कन्दराओं और गुफा या श्मशान आदि में रहकर जिनवचनों का उत्साह-चित्त से अनुचिंतन करते हुए निवास करता है। उनका निवास-स्थान (वसतिका) में ममत्व नहीं होता।⁵ 'बोधपाहुड' गाथा 42 में भी दीक्षा-योग्य स्थान दर्शाते-हुए कहा है— सूनाघर, वृक्ष का मूल, कोटर, उद्यान, वन, श्मशान-भूमि, पर्वत की गुफा या शिखर, भयानक वन और वसतिका में दीक्षा-सहित साधु ठहरें।

साधु और आर्यिकाओं के पृथक् निवास-स्थान

'मूलाचार' में साधुसंघ और आर्यिका-संघ के पृथक्-पृथक् निवास का निर्देश है और आर्यिकाओं के आवास में मुनिचर्या एवं संसर्ग वर्जित किया है। इस सम्बन्ध में गाथा 177 से गाथा 196 मूलतः पठनीय है।

रात्रि-निवास का स्वरूप और सिद्धत्व की खोज

साधुगण सदा हिंस्र जन्तुओं से चारों तरफ से घिरे भयंकर अन्धकारयुक्त गहन-वन में रात्रि में धर्म में अनुरक्त हुए पर्वत की गुफाओं में निवास करते हैं।⁷ पर्यकासन, वीरासन या उत्कृटिकासन से बैठे हुए या एक करवट से लेटे हुए या खड़े हुए साधुगण रात्रि व्यतीत करते हैं।⁸ स्वाध्याय और ध्यान में तत्पर हुए वे रात्रि के प्रथम और अंतिम प्रहर में नहीं सोते और सूत्र व अर्थ का चिन्तन का तकिया लगाकर एक करवट सोते हैं।⁹ इसप्रकार उपाधि अकिंचन, परिशुद्ध-साधु सिद्धत्व की खोज करते रहते हैं।¹⁰ ऐसे साधु त्रियोगपूर्वक वंदनीय हैं।

विविक्त शय्यासन तप और निर्दोष साधुआवास (वसतिका)

‘विविक्त-शय्यासन तप’ का सम्बन्ध साधु-निवास (वसतिका) से है। जो प्रासुक हो, जिस वसतिका में राग तथा द्वेष के भावों को उत्पन्न करनेवाले मनोज्ञ-अमनोज्ञ, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द न पाये जायें, तथा जहाँ पर स्वाध्याय और ध्यान में विघ्न उपस्थित न हो, और स्त्रियां, नपुंसकों असंयमियों और पशुओं का संचार न हो, उस वसतिका (स्थान) को ‘विविक्त’ कहते हैं। ऐसी वसतिका में रहने और सोने को ‘विविक्त-शय्यासन तप’ कहा है।

‘भगवती आराधना’ की गाथा 235 (दिल्ली प्रकाशन) में वसतिका के बारे में स्पष्ट निर्देश है कि जिसप्रकार साधु छियालीस दोष-रहित वसतिका ग्रहण करते हैं। सोलह प्रकार के उद्गम-दोष, सोलह प्रकार के साधु के आश्रय से होनेवाले उत्पादन-दोष, दश प्रकार के एषणा-दोष तथा संयोजना, अप्रमाण, धूप और अंगार —ऐसे छियालीस दोष-रहित वसतिका में साधु प्रमाणकाल तक रहे।¹¹

अधःकर्म-वसतिका का दोष : साधुत्व-नाश

इसके अतिरिक्त साधुत्व को भ्रष्ट करनेवाला ‘अधःकर्म’ अर्थात् सबसे निम्न-कर्म का दोष है, जो सबसे महान् दोष है। जिन कार्यो से जीव-हिंसा होती है, उन्हें ‘अधःकर्म’ कहते हैं। इससे साधु के महाव्रतों का नाश होता है। साधुजन अधःकर्म-युक्त किसी भी कार्य/पदार्थ की मन-वचन-काय से अनुमोदना नहीं करते और न ही ऐसा आहार व निवास-स्थान ग्रहण करते हैं। उक्त गाथा की टीका के अनुसार वृक्षों को काटकर लाना, ईंटों को पकाना, कीचड़ करना, खंभे तैयार करना, अग्नि से लोहे को तपाना व घनों से कूटना, करौता से काठ चीरना, बसूले से छीलना, फरसे से छेदना इत्यादि नानाप्रकार की क्रियाओं से छह-काय के जीवों को पीड़ा देकर जो वसतिका स्वयं बनाई हो या बनवाई हो, तो वह ‘अधःकर्म दोषवाली वसतिका’ है। इसके सेवन से साधुपना नष्ट होता है।¹²

निर्दोष-वसतिका में निवास से परिणामों में संक्लेश नहीं होने से चित्त में परमविशुद्धि होती है और आत्मस्वभाव में स्थिर होने से कर्मों के आस्रव का अभाव होकर संवर और निर्जरा होती है।

विहारचर्या की शुद्धि और ईर्या-समिति

जिनेश्वरी आज्ञा है कि साधुगण शास्त्र-श्रवण, तीर्थयात्रा, गुरुदर्शन आदि के प्रयोजन से आगे की चार-हाथ-प्रमाण भूमि देखकर प्रासुकमार्ग से ईर्यासमिति अर्थात् सम्यक् जागरूकतापूर्वक गमन करें।¹³ मार्ग में प्रकाश-शुद्धि, उपयोग-शुद्धि और अवलम्बन साधुगण परिग्रहरहित होते हुए गमन करें।¹⁴ विहार-शुद्धि-हेतु साधुगण परिग्रह-रहित, निरपेक्ष, स्वच्छंदविहारी वायु के समान पृथ्वी तक पर जीवदयाभाव-सहित भ्रमण करते हैं। इससे ईर्यापथजन्य कर्मबंध नहीं होता।¹⁵ साधुगण ज्ञान-प्रकाश से जीव-अजीव के भेद को अच्छी तरह जानकर सावद्यरूप दोष का सर्वथा त्यागकर देते हैं।¹⁶ विहार करते समय वे वीतराग तीर्थकरों के ज्ञान, दर्शन, चरित्र एवं वीर्य तथा वैराग्य की भावना भाते हैं।¹⁷ ऐसे साधुगण शरीर से निरपेक्ष, इंद्रियजयी, आत्मा का दमन करते हुए धैर्यरूपी की रस्सी का अवलम्बन लेते हुए संसार के कारणों का नाश करते हैं।¹⁸

साधु-संघ का अनियत विहार : लाभ और उद्देश्य

'भगवती आराधना' के 'अनियत-विहार अधिकार' में साधुओं के एक स्थान पर न रहकर विविध-देशों में बिना कार्यक्रम निश्चित किये विहार करने को 'अनियत-विहार' कहा है। 'अनियत-विहार' से (1) सम्यग्दर्शन की शुद्धि, (2) रत्नत्रय में स्थितीकरण, (3) परिषह-सहनरूप भावना, (4) अतिशयरूप अर्थ-कुशलता और (5) क्षेत्र-परिमार्ग का बोध होता है।¹⁹ अनियत-विहार के इन पाँच उद्देश्यों का वर्णन 'भगवती आराधना' में गाथा 148 से गाथा 157 तक किया है, जो पठनीय है। अनियत-विहार करने से वसतिका, उपकरण, ग्राम-नगर, संघ-श्रावक आदि से ममता का बंधन नहीं होता। 'यह वसतिका हमारी और मैं इसका स्वामी' — इसप्रकार का संकल्प-विकल्प नहीं होता और सर्वपर-द्रव्य, पर-क्षेत्र, पर-काल और पर-भावों आदि में परिणाम नहीं बंधता; इसकारण विहार अनियत होता है।²⁰

एकाकी विहार का निषेध

जिनदीक्षा में साधुओं के निवास और विहार में एकाकीपना स्वच्छंदता का पोषक होने से निषिद्ध है। 'मूलाचार' के सामाचाराधिकार में कहा है²¹ —

सच्छंद-गदागदी सयण-णिसयणा-दाण भिक्खवो सरणे ।

सच्छंद जंपरोचि यमामे सत्तवि एगागी ॥ — (गाथा 150)

अर्थ :— गमन-आगमन, सोना-बैठना, किसी वस्तु को ग्रहण करना, आहार लेना और मूल-मूत्र विर्सजन करना — इन कार्यों में जो स्वच्छंद-प्रवृत्ति करनेवाला है और बोलने में भी स्वच्छंद-रुचिवाला है, ऐसा मेरा शत्रु भी एकल-विहारी न होवे ।

स्वेच्छा की प्रवृत्ति में गुरु की निंदा, श्रुत का विनाश, तीर्थ की मलिनता, मूढता, आकुलता, कुशीलता और पार्श्वस्थ दोष आते हैं।²² इससे अनेक आपत्तियाँ भी आती हैं ।

काँटे, ढूँढ, विरोधीजन, कुत्ता-गौ, आदि और म्लेच्छजनों से अथवा विष-अजीर्ण आदि दोषों से अपनेआप में विपत्तियाँ भी आती हैं।²³ एकाकी रहनेवाले को जिन-आज्ञा का उल्लंघन, अनवस्था (अति प्रसंग), मिथ्यात्व का सेवन, आत्मनाश अर्थात् सम्पददर्शन-ज्ञान-चरित्र की विराधना और संयम की विराधना अर्थात् विषयों की प्रवृत्ति एवं अविरत-परिणामों की वृद्धि, ये पाँच पापस्थान माने गये हैं।²⁴ संक्षेप में जहाँ आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर और गणधर नहीं हैं, वहाँ पर रहना उचित नहीं है।²⁵

एकाकी-विहारी पाप-श्रमण

‘मूलाचार’ के समयसाराधिकार के अनुसार जो श्रमण आचार्य-संघ को छोड़कर एकाकी-विहार करता है और उपदेश-ग्रहण नहीं करता, वह ‘पाप-श्रमण’ है।²⁶ इसीप्रकार जो पहले शिष्यत्व न करके आचार्य होने की जल्दी करता है, वह ‘ढोढाचार्य’ है। वह मदनोन्मत्त-हाथी के समान निरंकुश-भ्रमण करता है।²⁷

‘सुत्तपाहुड’ में भी जिन सूत्र (जिनाज्ञा) से च्युत होकर स्वच्छंदी-साधु को पापरूप एवं मिथ्यात्वी कहा है, भले ही वह सिंहवृत्तिरूप बहुत तपश्चरण करता हो और बड़ा-पदधारी या संघनायक हो।²⁸

एकाकी विहार के दो अपवाद

जिनशासन में निम्न दो अपवादों में एकाकी-विहार एवं एकाकी-निवास स्वीकार किया है।

(i) अपने दीक्षा-गुरु से सम्पूर्ण श्रुतज्ञान ग्रहणकर जब कोई प्रतिभावान, गुण-सम्पन्न साधु अन्य-शास्त्रों के अध्ययन-हेतु किसी दूसरे संघ में जाना चाहता है, तब वह अपने गुरु से विनयपूर्वक आज्ञा लेकर दो, तीन या चार साधुओं-सहित संघ छोड़कर विहार कर सकता है।²⁹ आगांतुक-साधुओं के साथ दूसरे संघ के आचार्य और साधुओं द्वारा किये जाने वाले व्यवहार का वर्णन गाथा 160 से लेकर 176 तक किया है, जो पठनीय है। ‘षट्खण्डागम’ के रचियता भगवत्स्वरूप आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलि एकाकी-विहार के आद्य-प्रमाण हैं, जिन्होंने सिद्धान्तमर्मज्ञ श्रीमद् भगवत् धरसेनाचार्य के पास आकर सिद्धान्त-ज्ञान ग्रहण किया था।

(ii) एकल-विहारी होने की जिनाज्ञा उन गुण-विशिष्ट साधुओं को है, जो तप, सूत्र, सत्त्व, एकत्वभाव, संहनन और धैर्य आदि गुणों से परिपूर्ण हैं।³⁰ तात्पर्य यह है कि तपोवृद्ध, ज्ञानवृद्ध, आचारकुशल, व आगमकुशल गुण-विशिष्ट साधु को ही अकेले विहार करने की सम्मति है, ऐसी जिनाज्ञा है।³¹

कुत्राप दान का फल

दुर्लभ जिनेश्वरी-दीक्षा धारण करके जिनाज्ञा का उल्लंघन कर मायाचार एवं आहारादि चार संज्ञाओं में अनुरक्त रहनेवाले, गृहस्थादिक कार्यों में संलग्न तथा सम्पक्त्व की विराधना आदि अवकार्य करनेवाले जिनलिंगी तथा कुपात्रों को दान देनेवाले गृहस्थ, कुभोगभूमि में जन्म लेते हैं।³² अतः वीतरागपथ के सभी पथिक जिनेश्वरी-आज्ञा के दर्पण में अपने भावों एवं

चर्या का सम्यक् अवलोकन करें और भावसहित जिनेश्वरी-आज्ञा का पालन करते हुए कार्यपरमात्मा-स्वरूप हों, यही भावना है।

सन्दर्भग्रंथ-सूची

1. संदर्भ क्रं० 1, 2, 3, 4 एवं 5 आचार्य वट्टकेर, 'मूलाचार' गाथा क्रमशः 202, 984, 786, 787 एवं 789-794।
2. संदर्भ क्रं० 6 आचार्य कुन्दकुन्द, 'बोधपाहुड' गाथा 42।
3. संदर्भ क्रं० 7, 8, 9, एवं 10 आचार्य वट्टकेर, 'मूलाचार' गाथा क्रमशः 795, 797, 796 एवं 798।
4. संदर्भ क्रं० 11 एवं 12, आचार्य शिवकोटी, 'भगवती आराधना' गाथा 235 एवं गाथा 235 की टीका पृष्ठ 104।
5. संदर्भ क्रं० 13, 14, 15, 16, 17 एवं 18 आचार्य वट्टकेर, 'मूलाचार' गाथा क्रमशः 11, 302-303, 799-800, 801, 810 एवं 811।
6. संदर्भ क्रं० 19 एवं 20 आचार्य शिवकोटी, 'भगवती आराधना' गाथा क्रमशः 147 एवं 158।
7. संदर्भ क्रं० 21, 22, 23, 24, 25, 26 एवं 27 आचार्य वट्टकेर, 'मूलाचार' गाथा क्रमशः 150, 151, 152, 154, 155, 961 एवं 962।
8. संदर्भ क्रं० 28 आचार्य कुंदकुंद, 'सूत्रपाहुड', गाथा 9।
9. संदर्भ क्रं० 29 एवं 30 आचार्य वट्टकेर, 'मूलाचार' गाथा क्रमशः 145-147 एवं 149।
10. संदर्भ क्रं० 31 जैनेन्द्र वर्णी, जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष, भाग 1, पृ० 488।
11. संदर्भ क्रं० 32,1 आचार्य सूर्यसागर, 'संयम प्रकाश' पूर्वाद्ध, द्वितीय भाग। ❖❖

‘नेता’ के लक्षण

नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्षः प्रियंवदः।

रक्तलोकः शुचिर्वाग्मी रूपवंशः स्थिरो युवां॥

बुद्धचुत्साह-स्मृति-प्रज्ञा-कला-मान-समन्वितः।

शूरो दृढश्च तेजस्वी शास्त्रचक्षुश्च धार्मिकः॥” —(दशरूपकम्, 2-1/2)

अर्थः— नेता विनयवान् होता है, मधुरभाषी होता है, त्यागवृत्ति वाला होता है, (अपना कार्य करने में) निपुण होता है, प्रियवचन बोलता है, लोकप्रिय होता है, पवित्र जीवनवाला होता है, वाग्मी (वक्तृत्वकला में निष्णात) होता है, प्रतिष्ठित वंशवाला (अर्थात् जिनके वंश में कलंकित जीवन किसी का भी न हो) होता है, स्थिर चित्तवाला होता है, युवा (कर्मठ) होता है, बुद्धि-उत्साह-स्मृतिक्षमता-प्रज्ञा-कला-सम्मान से समन्वित होता है, शूरवीर होता है, दृढमनस्वी होता है, युवा (कर्मठ) होता है, बुद्धि-उत्साह-स्मृतिक्षमता- प्रज्ञा-कला-सम्मान से समन्वित होता है, शूरवीर होता है, दृढमनस्वी होता है, तेजवान् होता है, शास्त्रचक्षुः (अर्थात् शास्त्रविरुद्ध कार्य कभी भी न करनेवाला) होता है और धर्मप्राण होता है।

‘ब्राह्मी’ लिपि और जैन-परम्परा

—डॉ० रवीन्द्र कुमार वशिष्ठ

‘ब्राह्मी लिपि’ विश्व की समस्त लिपियों की जननी है— यह मात्र श्रद्धावश या भक्ति के अतिरेक में किया गया कथन नहीं है, अपितु लिपिविज्ञान की दृष्टि से वर्णाकृतियों के विकास एवं लेखनशैली की दृष्टि से भी यह एक महत्वपूर्ण प्ररूपण है —ऐसा निर्विवाद मनीषियों ने स्वीकार किया है। भारतीय परम्परा के ग्रन्थों में इस बारे में जो उल्लेख मिलते हैं, उनका संक्षिप्त निरूपण इस लेख में विद्वान् लेखक ने श्रमपूर्वक किया है। आशा है ‘प्राकृतविद्या’ के सुधी जिज्ञासुपाठकों के लिए यह लेख अवश्य ही रोचक एवं ज्ञानवर्धक लगेगा।

—सम्पादक

‘ब्राह्मी लिपि’ भारतवर्ष की ज्ञात प्राचीनतम लिपियों में से प्रमुख लिपि है। आधुनिक काल में प्रचलित अंग्रेजी और उर्दू-भाषाओं के लिए प्रयुक्त लिपियों के अतिरिक्त अन्य समस्त भारतीय-लिपियों का जन्म ‘ब्राह्मी लिपि’ से ही हुआ है। तिब्बती, स्यामी, सिंहली, थाई, जावा, सुमात्रा की लिपियाँ ‘ब्राह्मी’ से स्पष्टतः प्रभावित हैं। इस लिपि की गणना प्राचीन भारतीय धार्मिक-ग्रन्थों में सर्वप्रथम की गई है। जैनग्रन्थों ‘पणवणासुत्त’ तथा ‘समवायांगसुत्त’ में अट्टारह और बौद्ध-ग्रन्थ ‘ललितविस्तर’ में चौंसठ लिपियों के नाम उद्धृत किए गए हैं। इस समस्त रचनाओं में ‘ब्राह्मी-लिपि’ को सर्वप्रथम-स्थान दिया गया है। इसीप्रकार ‘भगवतीसूत्र’ को ‘नमो बंधीए लिविए’ मंगलाचरण से ब्राह्मी-लिपि को नमस्कार करके प्रारम्भ किया गया है। ये वर्णन प्राचीनकाल में ब्राह्मी-लिपि के महत्वपूर्ण-स्थान पर प्रकाश डालते हैं। ब्राह्मी-लिपि को विभिन्न विद्वानों ने ‘सार्वदेशिक लिपि’ माना है। विद्वद्वरेण्य राहुल सांकृत्यायन के सर्वमान्य शब्दों में “यदि कोई एक ब्राह्मी-लिपि को अच्छी तरह सीख जाए, तो वह अन्य लिपियों को थोड़े ही परिश्रम से सीख सकता है।”¹

ब्राह्मी-लिपि के नामकरण के विषय में विभिन्न-मत प्रचलित हैं। संसार की समस्त कृतियों को ईश्वर को समर्पित करने की भावना प्राचीनकाल से भारतीयों के मानस पर छायी रही है। इसी परम्परा का निर्वाह करते हुए ब्राह्मी-लिपि को ब्रह्म अथवा ब्रह्मा से उत्पन्न माना गया है। यह एक श्रद्धा-युक्त भावना को प्रदर्शित करता है। एक चीनी-विश्वकोश ‘फा-वाङ्-शु-लिन’ (660 ई०) के अनुसार इस लिपि के रचनाकार तीन दैवी-शक्तिवाले

आचार्य थे, जिनमें सबसे प्रसिद्ध 'ब्रह्मा' नामक आचार्य थे। इन्हीं के नाम के आधार पर इस लिपि का नाम 'ब्राह्मी' लिपि पड़ा। उपर्युक्त दोनों मतों में कोई विशेष-भिन्नता नहीं है। 'नारदस्मृति' में उपलब्ध वर्णन² में ब्रह्मा के द्वारा उत्तम-चक्षुस्वरूप लेखन (लिपि) की रचना का उल्लेख किया गया है। विधाता के द्वारा भ्रान्ति से बचाने के लिए पत्रारूढ अक्षरों की रचना का 'आह्निकतत्त्व' और 'ज्योतिस्तत्त्व' में प्राप्त ब्रह्मस्पति के वचनों को ओझा³ ने अपनी रचना में उद्धृत किया है। एक अन्य मत के अनुसार वेद — ज्ञान की रक्षा के लिए आर्यों ने ब्राह्मी-लिपि का आविष्कार किया। वेद ब्रह्मज्ञान माना गया है, तदनुसार इस लिपि का नाम 'ब्राह्मी-लिपि' पड़ा। ब्यूलर आदि कुछ विद्वानों का विचार है कि ब्राह्मणों के द्वारा इस लिपि का प्रयोग किए जाने के कारण इस लिपि का नाम 'ब्राह्मी-लिपि' हो गया। इसीप्रकार एक मान्यता यह भी है कि इस लिपि का प्रयोग 'ब्रह्म देश' में होने के कारण इसे 'ब्राह्मी-लिपि' संज्ञा प्राप्त हुई। 'हिन्दी विश्वकोष' के मत के अनुसार "ऋषभदेव ने ही सम्भवतः लिपि-विद्या के लिए कौशल का उद्भावन किया। ऋषभदेव ने ही सम्भवतः शिक्षा के लिए उपयोगी ब्राह्मी-लिपि का प्रयोग किया था।"⁴

ऋषभदेव जैन-मतावलम्बियों के आदि-तीर्थंकर हैं। इनका उल्लेख वेदों से लेकर 'भागवत' तक प्रत्येक प्रमुख-ग्रन्थ में उपलब्ध होता है। 'ऋग्वेद' में महान् पराक्रमी युद्ध में अजेय ऋषभ को इन्द्र के द्वारा युद्ध का सामान और रथ भेंट किए जाने का उल्लेख प्राप्त होता है।⁵ 'भागवत' में धर्मज्ञ तथा योगचर्या-युक्त ऋषभदेव का वर्णन उपलब्ध होता है।⁶ भागवत में उन्हें आदि-मनु स्वयम्भू के पुत्र प्रियव्रत के प्रपौत्र, अग्नीध्र के पौत्र तथा नाभि के पुत्र के रूप में वर्णित किया गया है। 'ब्रह्माण्डपुराण' में श्रेष्ठ-क्षत्रिय के रूप में इनका स्मरण किया गया है।⁷ उन्होंने जन-कल्याण के लिए कृषि-विद्या का प्रवर्तन किया तथा कृषि-कार्य में सहायक वृषभ को अपने चिह्न के रूप में भी प्रचलित है। मानव-कल्याण के लिए ज्ञान देना उनका दूसरा महत्त्वपूर्ण योगदान है। उनकी दो पुत्रियाँ तथा सौ पुत्र थे। ब्राह्मी और सुन्दरी उनकी दो पुत्रियाँ थीं। अपने समस्त पुत्रों के साथ-साथ उन्होंने दोनों पुत्रियों को भी सभीप्रकार की विद्याओं का ज्ञान प्रदान किया।⁸ आदि तीर्थंकर ऋषभदेव ने दोनों हाथों से ज्ञान देते हुए दायें हाथ से लिपि-ज्ञान और बायें हाथ से अंक-विद्या की शिक्षा दी। 'पुराणसंग्रह' में संकलित 'आदिनाथचरित' में 'ब्राह्मी' को 'अक्षर-ज्ञान' तथा 'सुन्दरी' को 'अंक-विद्या' प्रदान करने का वर्णन उपलब्ध होता है।⁹ इस लिपि का ज्ञान आदिनाथ ने संसार में अज्ञान को दूर करनेवाली और जगत् का कल्याण-करनेवाली ज्योति¹⁰ के रूप में करवाया। 'भगवती सूत्र' में उपलब्ध-वर्णन के आधार पर 'अभिधान-राजेन्द्र-कोष' में भी इसीप्रकार का उद्धरण प्रस्तुत किया गया है।¹¹ उनके द्वारा करवाये गये ज्ञान से ब्राह्मी लेखन-विज्ञान में पारंगत हो गयीं। ब्राह्मी ने लिपि का रूप ग्रहण कर लिया तथा लिपि ने ब्राह्मी का रूप ग्रहण कर लिया। दोनों

ने एक-दूसरे को आत्मसात् कर लिया। वे दोनों एक-दूसरे में समवाय हो गयीं। अतः लिपि का नाम ही 'ब्राह्मी लिपि' हो गया। 'अभिधान राजेन्द्रकोष' में इस तथ्य का स्पष्ट संकेत मिलता है।¹² ब्राह्मी ने अपनी विलक्षणता के कारण सम्माननीय स्थान बना लिया। वे अपने तपोबल से आर्यिका बनीं तथा आर्यिकाओं में श्रेष्ठ बन गयीं।¹³ वे अपनी साधना से जन-जन से पूजा की अधिकारिणी बन गयीं। ज्ञान में वे सरस्वती का पर्याय बन गयीं।¹⁴

आचार्य हेमचन्द्र ने भी ब्राह्मी की गणना सरस्वती के नौ नामों में की है।¹⁵ 'प्रतिष्ठासारोद्धार' (6/33) में 'श्रुत-स्कन्ध' की स्थापना करके उसकी स्तुति का प्रावधान ब्राह्मी के न्यास-विधान को करके ब्राह्मी के प्रति आस्था और सम्मान को प्रकट किया गया है।¹⁶ 'श्रुतपञ्चमी' के दिन की जाने वाली पूजा वास्तव में ब्राह्मी की/ब्राह्मी लिपि की पूजा है। कालान्तर की एक रचना 'अनगारधर्मावृत' (4/151) में पं० आशाधर ने मैत्री, करुणा इत्यादि भावनाओं में तत्पर रहने के लिए ब्राह्मी को प्राप्त अक्षरावली आदिनाथ ऋषभदेव के श्रीमुख से प्राप्त हुई, अतः "सिद्धं नमः" मंगलाचरण से युक्त हुई।¹⁷ 'महापुराण' में भी इस सन्दर्भ का एक पद्य प्राप्त होता है।¹⁸ यह लिपि अद्वारह-प्रकारों से युक्त है। इन समस्त प्रकारों का ज्ञान ब्राह्मी को प्रदान किए जाने के कारण इनका नाम 'ब्राह्मी' हो गया।¹⁹ यहाँ पर वर्णित अद्वारह-प्रकार की लिपियाँ वही हैं, जिनका उल्लेख 'पण्णवणासुत्त' तथा 'समवायांगसुत्त' में किया गया है। 'पण्णवणासुत्त' की प्राचीन हस्तलिखित-पुस्तकों के आधार पर गौरीशंकर हीराचन्द ओझा²⁰ ने अद्वारह-प्रकार की लिपियों के नाम प्रस्तुत किए हैं— बंभी, जवणालि, दोसापुरिया, खरोट्टी, पुक्खरसारिया, भोगवइया, पहाराइया, उयअंतरिक्खिया, अक्खरपिट्ठिया, तेवणइया, गिण्णिहइया, अंकलिवि, गणितलिवि, गंधवलिवि, आदंसलिवि, माहेसरी, दामिली और पोलिंदी। ये समस्त प्रकार की लिपियाँ आदिदेव ने ब्राह्मी को सिखाई थीं। आचार्य हेमचन्द्र के 'त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित' तथा एक अन्य-रचना 'शत्रुञ्जयकाव्य' में भी इसीप्रकार का वर्णन उपलब्ध होता है। बौद्ध-ग्रन्थ 'ललितविस्तर' में चौसठ लिपियों का उल्लेख प्राप्त होता है। यहाँ पर दिए गए नाम 'पण्णवणासुत्त' में प्रस्तुत नामों से मिलते जुलते हैं। ये समस्त लिपियाँ भारत में सर्वप्रचलित, सीमित क्षेत्रों में प्रचलित विदेशी-प्रान्तों में प्रचलित, जातीय एवं साम्प्रदायिक, सांकेतिक, शैली-परक तथा काल्पनिक लिपियाँ हैं।²¹ ये समस्त लिपियाँ ब्राह्मी और खरोष्ठी लिपियों के व्यापक-प्रचलन के कारण इनकी शाखारूप में सीमित हो गयीं।

सन्दर्भग्रंथ-सूची

1. 'भारतीयों का लिपिज्ञान' (निबन्ध) : गंगा-पुरातत्वांक (1933) : (सं०) राहुल सांकृत्यायन।
2. "नाकरिष्यद्यदि ब्रह्मा लिखितं चक्षुरुत्तमम्।
तत्रेयमस्य लोकस्य नामविष्यत् शुभा गतिः।।" —(नारदस्मृति)

3. ओझा, गो०ही० : भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृष्ठ 1।
4. बसु, नगेन्द्रनाथ (सं०) : हिन्दी विश्वकोष, प्रथम भाग, पृष्ठ 64।
5. 'त्वं रथं प्रमसे योधमृष्वमानो युध्यन्तं वृषभं दशद्युम्'। —(ऋग्वेद, 4/6/26)
6. क. "धर्मं बृवीषि धर्मज्ञ ! धर्मोऽसि हि वृषरूपधृक्"। —(भागवत, 1/17/22)
ख. "इति नानायोगचर्चाचरणो कैवल्यपतिः ऋषभः"। —(भागवत, 5/6/24)
7. "ऋषभं पार्थिवश्रेष्ठं सर्वक्षत्रस्य पूर्वजम्"। —(ब्रह्माण्डपुराण, 2/14/60)
8. क. "अक्षरालेख्यगन्धर्वगणितादिसकलार्णवम्।
सुमेधानैः कुमारीभ्यामवगाहयति स्म।" —(हरिवंशपुराण, 9/24)
ख. "..... ब्राह्मीसुन्दरीभ्यां सिद्धमातृकोपदेशपुरस्सरं गणितं स्वयंभुवाधानानि पदविद्याछन्दो विचित्यलंकारशास्त्राणि च।" —(अर्हद्दास : पुरुदेवचम्पू, 7/1)
9. "अक्षराणि विभु ब्राह्म्या अकारादीन्यवोचत्।
वामहस्तेन सुन्दर्या गणितं चाप्यदर्शयत्।" —(आदिनाथचरित, 3/14)
10. "अपसव्येन स ब्राह्म्या ज्योतिरूपा जगद्धिता।" —(शत्रुञ्जयकाव्य, 3/131)
11. "लेणं लिवीविहाणं जिणेण बंभीए दाहिणकरेण।
गणियं संखाणं सुरन्दरीए वामेण उवइट्ठं।।"
12. "लेखो लिपिविधानं तदक्षिणहस्तेन जिनेन ब्राह्म्या दर्शितम् इति। तस्माद् ब्राह्मी नाम्नी सा लिपिः।"
13. "भरतस्यानुजा ब्राह्मी दीक्षित्वा गुर्वनुग्रहात्।
गणिनी पदमार्याणां सा भेजे पूजितामरैः।।" —(आचार्य जिनसेन : महापुराण, 24/175)
14. "वाग्देवी शारदा ब्राह्मी भारती गीः सरस्वती।
हंसयाना ब्रह्मपुत्री सा सदा वरदास्तु वः।।" —(हर्षकीर्ति : शारदीयनाममाला, 1/2)
15. "वाक् ब्राह्मी, भारती, गौः, गीः, वाणी, भाषा, सरस्वती और श्रुतदेवी।"
—(अभिधानचिन्तामणि, 2/155)
16. "ब्राह्मीन्यासविधानेन श्रुतस्कन्धमिह स्तुयात्।"
17. "ततो भगवतो वक्त्रानिस्सृतामक्षरावलीम्।
सिद्धं नम इति व्यक्तमंगलां सिद्धमातृकाम्।।"
—(भगवज्जिनसेनाचार्य : महापुराण, भाग 1, 16/105)
18. "भावे णमसिद्धं पणमेप्पणु दाहिणवामकरेहि लिहेप्पिणु।
दोहिं मि णिम्मलकंचणवण्णहं अक्खरगणियइं कण्णहं।।" —(पुष्पदन्त : महापुराण, 5/18)
19. "लिपिः पुस्तकादौ अक्षरविन्यासः सा चाष्टादशप्रकाराणि श्रीमन्नाभेयजिनेन स्वसुताया ब्राह्मीनामिकाया दर्शिता, ततो ब्राह्मी नाम इत्यभिधीयते।"
—(अभिधानराजेन्द्रकोश, भाग 5, पृ० 1884)
20. भारतीय प्राचीन लिपिमाला। —(पृ०, 17)
21. पाण्डेय, राजबली : इण्डियन पेलियोग्राफी।



लिपिशालासंदर्शनपरिवर्तो दशमः

लिपि-विषयक अध्ययन-अनुसंधान एवं विकास की परंपरा इस देश में अतिप्राचीन एवं सुसमृद्ध रही है। जैन-बौद्ध-परम्पराओं में भी इस दिशा में पर्याप्त ध्यान दिया गया और उल्लेखनीय कार्य हुए हैं। यहाँ पर बौद्ध-परम्परा के प्रमुख-ग्रंथ 'ललितविस्तर' के 'दशम परिवर्त' का मूलपाठ प्रकाशित-संस्करण के आधार पर यथावत् प्रस्तुत किया जा रहा है। इसमें चौसठ लिपियों के नाम तो हैं ही, जिनमें 'ब्राह्मी' लिपि सर्वप्रथम है, साथ ही लिपिशाला में वर्ण-आकृतियों का परिचय कैसे दिया जाता था? —इसका भी प्रभावी निरूपण इसमें प्राप्त होता है। आशा है यह मूलपाठ भी लिपि-विषयक जिज्ञासुओं एवं अनुसन्धाताओं के लिए पर्याप्त उपयोगी सिद्ध हो सकेगा।

यहाँ प्रस्तुत पाठ में जो संस्कृत की दृष्टि से विशेषरूप दृष्टिगोचर हैं, वे मूलपाठ का यथावत् प्रस्तुतीकरण के कारण हैं।

—सम्पादक

इति हि भिक्षवः संवृद्धः कुमारः। तदा मांगल्यशतसहस्रैः लिपिशालामुपनीयते स्म दशभिर्दारकसहस्रैः परिवृतः पुरस्कृतः, दशभिश्च रथसहस्रैः खादनीयभोजनीयस्वादनीयपरिपूर्ण-हिरण्यसुवर्णपरिपूर्णैश्च। येन कपिलवस्तुनि महानगरे वीथिचत्वररथ्यान्तरापणमुखेष्वभ्यवकीयते स्म अभिविश्राम्यन्ते। अष्टाभिश्च तूर्यशतसहस्रैः प्रघुष्यमाणैर्महता च पुष्पवर्षेणाभिप्रवर्षता वितर्दिनीर्यूहतोरणगवाक्षहर्म्यकूटागारप्रसादतलेषु कन्याशतसहस्राणि सर्वालंकारभूषिताः स्थिता अभूवन्। बोधिसत्त्वं प्रेक्षमाणाः कुसुमानि च क्षिपन्ति स्म। अष्टौ च मरुत्कन्यासहस्राणि विगलितालंकाराभरणालंकृतानि रत्नभद्रकरेण गृहीतानि मार्गं शोधयन्त्यो बोधिसत्त्वस्य पुरतो गच्छन्ति स्म। देवनागयक्षगन्धर्वासुरगणसङ्किन्नरमहोरगाश्चार्धकायिका गगनतलात्पुष्पट्टदामान्यभि-प्रलम्बयन्ति स्म। सर्वे च शाक्यगणाः शुद्धोदनं राजानं पुरस्कृत्य बोधिसत्त्वस्य पुरतो गच्छन्ति स्म। अनेनैवरूपेण व्यूहेन बोधिसत्त्वो लिपिशालामुपनीयते स्म।।

समनन्तरप्रवेशितश्च बोधिसत्त्वो लिपिशालाम्। अथ विश्वामित्रो नाम दारकाचार्यो बोधिसत्त्वस्य श्रियं तेजश्चासहमानो धरणितले निविष्टोऽधोमुखः प्रपतति स्म। तं तथा प्रपतितं दृष्ट्वा शुभांगो नाम तुषितकायिको देवपुत्रो दक्षिणेन करतलेन परिगृह्योत्थापयति स्म। उल्थाप्य च गगनतलस्थो राजानं शुद्धोदनं तं च महान्तं जनकायं गाथाभिरभ्यभाषात्—

शास्त्राणि यानि प्रचलन्ति मनुष्यलोके, संख्या लिपिश्च गणनापि च धातुतन्त्रम्।

ये शिल्पयोग-पृथु-लौकिक-अप्रमेयाः, तेष्वेषु शिक्षितुं पुरा बहुकल्पकोट्यः।।।।।

किं तू जनस्य अनुवर्तनतां करोति, लिपिशालमागतु सुशिक्षितु शिष्यणार्थम् ।
परिपाचनार्थं बहुदारक अग्रयाने, अन्यांश्च सत्त्वनयुतानमृते विनेतुम् ॥ 2 ॥
लोकोत्तरेषु चतुसत्यपथे विधिज्ञो, हेतुप्रतीत्यकुशलो यथ संभवन्ति ।
यथ चानिरोधक्षयु संस्थितु शीतिभावः, तस्मिन्विधिज्ञ किमथो लिपिशास्त्रमात्रे ॥ 3 ॥
नेतस्य आचरिय उत्तरि वा त्रिलोके, सर्वेषु देवमनुजेष्वयमेव ज्येष्ठः ।
नामापि तेष लिपिनां न हि वित्य यूयं, यत्रेषु शिक्षितु पुरा बहुकल्पकोट्यः ॥ 4 ॥
सो चित्तधार जगतां विविधा विचित्रा, एकक्षणेन अयु जानति शुद्धसत्त्वः ।
अदृश्यरूपरहितस्य गतिं च वेत्ति, किं वा पुनोऽथे लिपिनोऽक्षरदृश्यरूपाम् ॥ 5 ॥
इत्युक्त्वा स देवपुत्रो बोधिसत्त्वं दिव्यैः कुसुमैरभ्यर्च्य तत्रैवान्तर्दधे । तत्र धात्र्यश्च
चेटीवर्गाश्च स्थापिता अभूवन् । परिशेषाः शाक्याः शुद्धोदनप्रमुखाः प्रक्रामन्तः ॥

अथ बोधिसत्त्व उदगसारचन्दनमयं लिपिफलकमादाय दिव्यार्णसुवर्णतिरकं
समन्तान्मणिरत्नप्रत्युप्तं विश्वामित्रमाचार्यमेवमाह — कतमां मे भो उपाध्याय लिपिं शिक्षापयसि ।
ब्राह्मीखरोष्ठीपुष्करसारिं अंगलिपिं बंगलिपिं मगधलिपिं मंगल्यलिपिं अंगुलीयलिपिं शकारिलिपिं
ब्रह्मवलिपिं पारुष्यलिपिं द्राविडलिपिं किरातलिपिं दाक्षिण्यलिपिं उग्रलिपिं संख्यालिपिं अनुलोमलिपिं
अवमूर्धलिपिं दरदलिपिं खाष्यलिपिं चीनलिपिं लूनलिपिं हूणलिपिं मध्याक्षरविस्तरलिपिं पुष्पलिपिं
देवलिपिं नागलिपिं यक्षलिपिं गन्धर्वलिपिं किन्नरलिपिं महोरगलिपिं असुरलिपिं गरुडलिपिं
मृगचक्रलिपिं वायसरुतलिपिं भौमदेवलिपिं अन्तरीक्षदेवलिपिं उत्तरकुरुद्वीपलिपिं अपरगोडानीलिपिं
पूर्वविदेहलिपिं उत्क्षेपलिपिं निक्षेपलिपिं विक्षेपलिपिं-प्रक्षेपलिपिं सागरलिपिं वज्रलिपिं लेखप्रतिलेखलिपिं
अनुद्रुतलिपिं शास्त्रावर्ता गणनावर्तलिपिं उत्क्षेपावर्तलिपिं निक्षेपावर्तलिपिं पादलिखितलिपिं
द्विरुत्तरपदसंधिलिपिं यावद्दशोत्तरपदसंधिलिपिं मध्याहारिणीलिपिं सर्वरुतसंग्रहणीलिपिं
विद्यानुलोमाविमिश्रितलिपिं ऋषितपस्तप्तां रोचमानां धरणीप्रेक्षिणीलिपिं गगनप्रेक्षिणीलिपिं
सर्वौषधिनिष्यन्दां सर्वसारसंग्रहणीं सर्वभूतरुतग्रहणीम् । आसां भो उपाध्याय चतुष्पष्टीलिपीनां
कतमां त्वं शिष्यापयिष्यसि?

अथ विश्वामित्रो दारकाचार्यो विस्मितः प्रहसितवदनो निहतमानमददर्प इमां गाथामभाषत—
आश्चर्यं शुद्धसत्त्वस्य लोके लोकानुवर्तिनो, शिक्षितः सर्वशास्त्रेषु लिपिशालामुपागतः ॥ 6 ॥
येषामहं नामधेयं लिपीनां न प्रजानमि, तत्रैष शिक्षितः सन्तो लिपिशालामुपागतः ॥ 7 ॥
वक्त्रं चास्य न पश्यामि मूर्धानं तस्य नैव च, शिष्ययिष्ये कथं ह्येनं लिपिप्रज्ञाय पारगम् ॥ 8 ॥
देवदेवो ह्यतिदेवः सर्वदेवोत्तमो विभुः, असमश्च विशिष्टश्च लोकेष्वप्रतिपुद्गलः ॥ 9 ॥
अस्यैव त्वनुभावेन प्रज्ञोपाये विशेषतः, शिक्षितं शिष्ययिष्यामि सर्वलोकपरायणम् ॥ 10 ॥

इति हि भिक्षवो दश दारकसहस्राणि बोधिसत्त्वेन सार्धं लिपिं शिष्यन्ते सम । तत्र
बोधिसत्त्वाधिस्थानेन तेषां दारकाणां मातृकां वाचयतां यदा अकारं परिकीर्तयन्ति स्म, तदा
अनित्यः सर्वसंस्कारशब्दो निश्चरति स्म । आकारे परिकीर्त्यमाने आत्मपरहितशब्दो निश्चरति

स्म । इकारे इन्द्रियवैकल्यशब्दः । ईकारे ईतिबहुलं जगदिति । उकारे उपद्रवबहुलं जगदिति । ऊकारे ऊनसत्त्वं जगदिति । एकारे एषणासमुत्थानदोषशब्दः । ऐकारे ऐर्यापथः श्रेयानिति । ओकारे ओघोत्तरशब्दः । औकारे औपपादुकशब्दः । अंकारे अमोघोपत्तिशब्दः । अःकारे अस्तांगमनशब्दो निश्चरति स्म । ककारे कर्मविपाकावतारशब्दः । खकारे खसमसर्वधर्मशब्दः । गकारे गम्भीरधर्मप्रतीत्यसमुत्पादावतारशब्दः । घकारे घनपटलाविद्यामोहान्धकारविधमनशब्दः । ङकारे ङङ्गविशुद्धिशब्दः । चकारे चतुरार्यसत्यशब्दः । छकारे छन्दरागप्रहाणशब्दः । जकारे जरामरणसमातिक्रमणशब्दः । झकारे झषध्वजबलनिग्रहणशब्दः । ञकारे ज्ञापनशब्दः । टकारे पटोपच्छेदनशब्दः । ठकारे ठपनीयप्रश्नशब्दः । डकारे डमरमारनिग्रहणशब्दः । ढकारे मीढविषया इति । णकारे रेणुक्लेशा इति । तकारे तथतासंभेदशब्दः । थकारे धामबलवेगवैशारद्यशब्दः । दकारे दानदमसंयमसौरभ्यशब्दः । धकारे धनमार्याणां सप्तविधमिति । नकारे नामरूपपरिज्ञाशब्दः । पकारे परमार्थशब्दः । फकारे फलप्राप्तिसाक्षात्क्रियाशब्दः । बकारे बन्धनमोक्षशब्दः । भकारे भवविभवशब्दः । मकारे मदमानोपशामनशब्दः । यकारे यथावद्धर्मप्रतिवेधशब्दः । रकारे रत्यरतिपरमार्थरतिशब्दः । लकारे लताछेदनशब्दः । वकारे वरयानशब्दः । शकारे शमयविपश्यनाशब्दः । षकारे षडायतननिग्रहणाभिज्ञानावाप्तिशब्दः । सकारे सर्वज्ञानाभिसंबोधनशब्दः । हकारे हतक्लेशविरागशब्दः । क्षकारे परिकीर्त्यमाने क्षणपर्यन्ताभिलाष्यसर्वधर्मशब्दो निश्चरति स्म । ।

इति हि भिक्षवस्तेषां दारकाणां मातृकां वाचयतां बोधिसत्त्वानुभावेनैव प्रमुखान्यसंख्येयानि धर्ममुखशतसहस्राणि निश्चरन्ति स्म । ।

तदानुपूर्वेण बोधिसत्त्वेन लिपिशालास्थितेन द्वात्रिंशद्द्वारकसहस्राणि परिपाचितान्यभूवन् । अनुत्तरायां सम्यक्संबोधौ चित्तान्युत्पादितानि द्वात्रिंशद्द्वारिकासहस्राणि । अयं हेतुरयं प्रत्ययो यच्छिक्षितोऽपि बोधिसत्त्वो लिपिशालामुपागच्छति स्म । ।

।। इति श्रीललितविस्तरे लिपिशालासंदर्शनपरिवर्तो नाम दशमोऽध्यायः ।।

—(साभार उद्धृत, ललितविस्तर, पृष्ठ 87-89)



राजनीति विहारदोषे कथा है

“तपसा हि समं राज्यं, योगक्षेमप्रपञ्चतः ।

प्रमादे सत्यधःपातादन्यथा च महोदयात् ।।”

—(आचार्य वादीभसिंह, क्षत्रचूडामणि, 11/8)

अर्थ :— राज्य करना तपस्या करने के समान है, क्योंकि इसमें योग की कुशलता के लिए निरन्तर सावधान रहना पड़ता है। यदि जरा भी प्रमाद (लापरवाही) हो जाये, तो तत्काल अधःपतन हो जाता है; और सावधानी रखी जाये, तो महान् अभ्युदय हो सकता है।

श्रवणबेल्गोला के अभिलेखों में वर्णित बैंकिंग प्रणाली

—श्री बिशनस्वरूप रुस्तगी

बैंकिंग-प्रणाली प्राचीन भारत में अज्ञात नहीं थी। बैंकिंग-प्रणाली की स्थापना भारतवर्ष में प्राचीनकाल में ही हो गई थी, किन्तु यह प्रणाली वर्तमान पाश्चात्य प्रणालियों से भिन्न थी। प्राचीन समय में श्रेणी तथा निगम बैंक का कार्य करते थे। देश की आर्थिक-नीति 'श्रेणी' के हाथों में थी। वर्तमान काल के 'भारतीय चैम्बर ऑफ कामर्स' से इसकी तुलना कर सकते हैं। पश्चिम भारत के क्षत्रप नहपान के दामाद ऋषभदत्त ने धार्मिक कार्यों के लिए तंतुवाय श्रेणी के पास तीन हजार कार्षापण जमा किये थे। उसमें से दो हजार कार्षापण एक कार्षापण प्रति सैकड़ा वार्षिक ब्याज की दर से जमा किए तथा एक हजार कार्षापण पर ब्याज की दर तीन चौथाई पण (कार्षापण का अड़तालीसवाँ भाग) थी।¹ इसीप्रकार के सन्दर्भ अन्य श्रेणी, जैसे तैलिक श्रेणी आदि के वर्णनों में भी मिलते हैं। जमाकर्ता कुछ धन जमा करके उसके ब्याज के बदले वस्तु प्राप्त करता रहता था।

इसीप्रकार के उल्लेख श्रवणबेल्गोला के अभिलेखों में भी मिलते हैं। दाता कुछ धन या भूमि आदि का दान कर देता था, जिसके ब्याजस्वरूप प्राप्त होनेवाली आय से अष्टविध पूजन, वार्षिक पाद-पूजा, पुष्प-पूजा, गोम्मटेश्वर-प्रतिमा के स्नान हेतु दुग्ध की प्राप्ति, मन्दिरों का जीर्णोद्धार, मुनि-संघों के लिए आहार का प्रबन्ध आदि प्रयोजनों की सिद्धि होती थी। इसप्रकार इन अभिलेखों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि दसवीं शताब्दी के आसपास बैंकिंग प्रणाली पूर्ण विकसित हो चुकी थी। आलोच्य अभिलेखों में जमा करने की विभिन्न पद्धतियाँ परिलक्षित होती हैं। गोम्मटेश्वर द्वार के दायीं ओर एक पाषाण खण्ड पर उत्कीर्ण एक अभिलेख के अनुसार² कल्लय्य ने कुछ धन इस प्रयोजन से जमा करवाया था कि इसके ब्याज से छह पुष्पमालायें प्रतिदिन प्राप्त होती रहें। इसके अतिरिक्त आलोच्य अभिलेखों में धन की चार इकाइयों—वरह, गद्याण, होन, हग के उल्लेख मिलते हैं। शक संवत् 1748 के एक अभिलेख³ में वर्णन आता है कि देवराजै अरसु ने गोम्मट स्वामी की पादपूजा के लिए एक सौ वरह का दान दिया। यह धन किसी महाजन या श्रेणी के पास जमा करवा दिया जाता था तथा इसके ब्याज से पाद पूजा के निमित्त उपयोग में आनेवाली वस्तुयें खरीदी जाती थीं। तीर्थकर सुत्तालय में उत्कीर्ण एक लेख⁴ में वर्णन आता है कि

गोम्मट सेट्टि ने गोम्मटेश्वर की पूजा के लिए बारह गद्याण का दान दिया। पूजा के अतिरिक्त अभिषेकादि के प्रयोजन से भी धन जमा करवाया जाता था। इस धन पर मिलने वाले ब्याज से नित्याभिषेक के लिए दूध लिया जाता था। एक प्रतिज्ञा-पत्र⁵ में वर्णन मिलता है कि सोवण ने आदिदेव के नित्याभिषेक के लिए पाँच गद्याण का दान दिया, जिसके ब्याज से प्रतिदिन एक 'बल्ल' (संभवतः दो सेर से बड़ी माप की इकाई होती थी) दूध दिया जा सके। विन्ध्यगिरि पर्वत एक अभिलेख⁶ के अनुसार आदियण ने गोम्मट देव के नित्याभिषेक के लिये चार गद्याण का दान दिया। इस राशि के एक 'होन' (गद्याण से छोटा कोई प्रचलित सिक्का) पर एक 'हाग' मासिक ब्याज की दर से एक 'बल्ल' दूध प्रतिदिन दिया जाता था। यहीं के एक अन्य अभिलेख के अनुसार⁷ गोम्मट देव के अभिषेकार्थ तीन मान (अर्थात् छह सेर) दूध प्रतिदिन देने के लिए चार गद्याण का दान दिया गया। अन्य अभिलेख में⁸ वर्णन मिलता है कि केति सेट्टि ने गोम्मट देव के नित्याभिषेक के लिए तीन गद्याण का दान दिया, जिसके ब्याज से तीन मान दूध लिया जाता था। उपर्युक्त ये तीनों ही अभिलेख तत्कालीन ब्याज की प्रतिशतता जानने के प्रामाणिक साधन हैं; किन्तु इन अभिलेखों के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि उस समय ब्याज की प्रतिशतता कोई निश्चित नहीं थी। क्योंकि वे दोनों लेख एक ही स्थान (विन्ध्यगिरि पर्वत) तथा एक ही वर्ष (शक संवत् 1197); के हैं किन्तु एक अभिलेख में चार गद्याण के ब्याज से प्रतिदिन तीन मान दूध तथा दूसरे में तीन गद्याण के ब्याज से भी तीन मान दूध प्रतिदिन मिलता था। किन्तु इसका विस्तृत विवेचन आगे किया जायेगा।

पूजा एवं नित्याभिषेकादि के अतिरिक्त प्रयोजनों के लिए भी धन का दान दिया जाता है। दानकर्त्ता कुछ धन को जमा करवा देता था तथा उससे प्राप्त होनेवाले ब्याज से मन्दिरों-बस्तियों का जीर्णोद्धार तथा मुनियों को प्रतिदिन आहार दिया जाता था। पहले बेलगोल में ध्वंस बस्ती के समीप एक पाषाण-खण्ड पर उत्कीर्ण एक अभिलेख⁹ में वर्णन आया है कि त्रिभुवनमल्ल एरेयगं ने बस्तियों के जीर्णोद्धार एवं आहार आदि के लिये बारह गद्याण जमा करवाये। श्रीमती अच्चे ने भी चार गद्याण का दान दिया।¹⁰ धन दान के अतिरिक्त भूमि तथा ग्राम देने के भी उल्लेख अभिलेखों में मिलते हैं। इसे 'निक्षेप' नाम से संज्ञित किया जा सकता है। इसके अन्तर्गत कुछ सीमित वस्तु देकर प्रतिवर्ष या प्रतिमास कुछ धन या वस्तु ब्याज स्वरूप ली जाती थी। इस दान की भूमि या ग्राम से पूजा सामग्री, पुष्पमालायें, दूध, मुनियों के लिए आहार, मन्दिरों के लिए अन्य सामग्री प्राप्त की जाती थी। शक-संवत् 1100 के एक अभिलेख के अनुसार¹¹ बेलगुल के व्यापारियों ने गंगसमुद्र और गोम्मटपुर की कुछ भूमि खरीदकर गोम्मटदेव की पूजा के निमित्त पुष्प देने के लिए एक माली को सदा के लिए प्रदान की। चिक्क मदुकण्ण ने भी कुछ भूमि खरीदकर गोम्मटदेव की प्रतिदिन पूजा-हेतु बीस पुष्पमालाओं के लिए अर्पित कर दी।¹² इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि भूमि से

होनेवाली आय का कुछ प्रतिशत धन या वस्तु देनी पड़ती थी। इसीप्रकार के भूमिदान से सम्बन्धित उल्लेख अभिलेखों में मिलते हैं। तत्कालीन समाज में भूमिदान के साथ-साथ ग्रामदान की परम्परा भी विद्यमान थी। ग्राम को किसी व्यक्ति को सौंप दिया जाता था, तथा उससे प्राप्त होनेवाली आय से अनेक धार्मिक कार्यों का सम्पादन किया जाता था। एक अभिलेख के अनुसार¹³ दानशाला और बेलगुल मठ की आजीविका-हेतु 80 वरह की आयवाले 'कबालु' नामक ग्राम का दान दिया गया। इसके अतिरिक्त जीर्णोद्धार, आहार, पूजा, आदि के लिए ग्रामदान के उल्लेख मिलते हैं।

आलोच्य अभिलेखों में कुछ ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं, जिसमें किसी वस्तु या सम्पत्ति को न्यास के रूप में रखकर ब्याज पर पैसा ले लिया जाता था तथा पैसा लौटाने पर सम्पत्ति को लौटा दिया जाता था। इस जमा करने के प्रकार को 'अन्विहित' कहा जाता था। ब्रह्मदेव मण्डप के एक स्तम्भ पर उत्कीर्ण लेख के अनुसार¹⁴ महाराजा चामराज औडेयर ने चेन्नन्न आदि साहूकारों को बुलाकर कहा कि तुम बेलगुल मन्दिर की भूमि मुक्त कर दो, हम तुम्हारा रुपया देते हैं। इसीप्रकार का वर्णन एक अन्य अभिलेख में भी मिलता है।¹⁵ इसके अतिरिक्त प्रतिमास या प्रतिवर्ष जमा कराने की परम्परा उस समय विद्यमान थी। इसकी समानता वर्तमान 'आवर्ति जमा योजना' (Recurring Deposit Scheme) से की जा सकती है। इसमें पैसा जमा किया जाता था तथा उसी पैसे से अनेक कार्यों का सम्पादन किया जाता था। विन्ध्यगिरि पर्वत के एक अभिलेख के अनुसार¹⁶ बेलगुल के समस्त जौहरियों ने गोम्मटदेव और पाश्र्वदेव की पुष्प-पूजा के लिए वार्षिक धन देने का संकल्प किया। एक अन्य अभिलेख¹⁷ में वर्णन आता है कि अंगरक्षकों की नियुक्ति के लिए प्रत्येक घर से एक 'हण' (संभवतः तीन पैसे के समकक्ष कोई सिक्का) जमा करवाया जाता था। जमा करने के लिए श्रेणी या निगम कार्य करता था। इसप्रकार जमा करने की विभिन्न पद्धतियाँ उस समय विद्यमान थीं।¹⁸

ब्याज की प्रतिशतता :— आलोच्य-अभिलेख तत्कालीन ब्याज की प्रतिशतता जानने के प्रामाणिक साधन हैं। इन अभिलेखों में ब्याज के रूप में दूध प्राप्त करने के उल्लेख अधिक मात्रा में हैं। इसलिये सर्वप्रथम हमें दूध के माप की इकाइयाँ जान लेनी चाहियें। अभिलेखों में दूध के माप की दो इकाइयाँ मिलती हैं—'मान' और बल्ल। मान दो सेर के बराबर का कोई माप होता था तथा 'बल्ल' दो सेर से बड़ा कोई माप रहा होगा, जो अब अज्ञात है। गोम्मटेश्वर द्वार के दायीं ओर एक पाषाण पर उत्कीर्ण लेख के अनुसार¹⁹ गोम्मटदेव के अभिषेकार्थ तीन मान दूध प्रतिदिन देने के लिए चार गद्याण का दान दिया। अतः यह समझा जा सकता है कि चार गद्याण का ब्याज इतना होता था, जिससे तीन मान अर्थात् लगभग छह सेर दूध प्रतिदिन खरीदा जा सकता था। किन्तु अन्य अभिलेख²⁰ के अनुसार केति सेट्टि ने गोम्मटदेव के नित्याभिषेक के लिये तीन गद्याण का दान दिया, जिसके

ब्याज से प्रतिदिन तीन मान दूध लिया जा सके। जैसाकि पहले कहा जा चुका है कि उस समय की ब्याज की प्रतिशतता कोई निश्चित नहीं थी। क्योंकि उपरोक्त दोनों अभिलेख एक ही स्थान तथा एक ही वर्ष के हैं। तब भी जमा की गई राशि भिन्न-भिन्न है। ब्याज की प्रतिशतता के किसी निष्कर्ष पर पहुँचने से पहले तत्कालीन धन की इकाइयों को जान लेना आवश्यक है।

एक गद्याण	=	60 पैसे के समान
एक हण	=	5 पैसे के समान
एक वरह	=	30 पैसे के समान
एक होन या होग	✓=	25 पैसे के समान
एक हाग	=	3 पैसे के समान

इसप्रकार धन की इकाइयों का ज्ञान होने के पश्चात् अभिलेखों में आये ब्याज-सम्बन्धी उल्लेखों को समझना सुगम हो जाता है। 1275 ई० के अभिलेख²¹ में वर्णन आता है कि आदियण ने गोम्मटदेव के नित्याभिषेक के लिए चार गद्याण का दान दिया। इस रकम के एक 'होन' पर एक 'हाग' मासिक ब्याज की दर से एक 'बल्ल' दूध प्रतिदिन दिया जाए। अतः उस समय 25 पैसे पर 3 पैसे प्रतिमास ब्याज दिया जाता था। जिससे ब्याज की प्रतिशतता 12% निकलती है। जबकि 1206 ई० अभिलेख²² के अनुसार नगर के व्यापारियों को यह आज्ञा दी गई कि वे सदैव आठ हण का टैक्स दिया करेंगे, जिससे एक हण ब्याज में आ सकता है। अर्थात् 40 पैसे पर 5 पैसे ब्याज मिलने से यह सिद्ध होता है कि ब्याज की मात्रा 12 1/2% प्रतिमास थी। उपरोक्त दोनों अभिलेखों के अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि बारहवीं- तेरहवीं शताब्दी में ब्याज की मासिक प्रतिशतता 12% के आसपास थी।

प्राचीन योजनायें : आधुनिक सन्दर्भ में :— आलोच्य-अभिलेखों के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि उस समय भी आज की भाँति विभिन्न बैंकिंग योजनायें प्रचलित थी, जिनमें निक्षेप, न्यास, औपनिधिक, अन्विहित, याचितक, शिल्पिन्यास, प्रतिन्यास आदि प्रमुख थी। ये अभिलेख उस समय की आर्थिक-व्यवस्था का दिग्दर्शन कराते हैं; जबकि क्रय-विक्रय विनिमय के माध्यम से होता था। जमाकर्ता कुछ धन या वस्तु जमा करवाकर उसके बदले ब्याज में नगर राशि न लेकर वस्तु ही लेता था। इसीप्रकार के उद्धरण, जो आलोच्य अभिलेखों में आये हैं, का विवेचन पहले किया जा चुका है। धन जमा करवाकर उसके ब्याज के रूप में दूध या पुष्प आदि लेना या भूमि देकर उससे अन्य अभीप्सित वस्तुओं की प्राप्ति करना।

उपरोक्त प्राचीन योजनाओं में से श्रवणबेलगोला के अभिलेखों में दो योजनाओं के उल्लेख प्राप्त होते हैं, जिन्हें आधुनिक सन्दर्भ में 'स्थायी बचत योजना' (Fixed Deposit)

और 'आवर्ति जमा योजना' (Recurring Deposit Scheme) कहा जा सकता है। स्थायी बचत-योजना की समानता प्राचीनकाल में प्रचलित 'औपनिधिक' नामक योजना से कर सकते हैं। इसके उदाहरण के रूप में हम उन अभिलेखों को लेक सकते हैं जिनमें कुछ धन जमा करवाकर उसके ब्याज के रूप में कोई वस्तु (दूध, पूजा सामग्री आदि) सदैव लेते रहते थे। 'आवर्ति जमा योजना' के अन्तर्गत हम उन उदाहरणों को देख सकते हैं, जिनमें कुछ धन की इकाई प्रतिमास प्रतिवर्ष जमा करवाई जाती थी।²³ इन दो योजनाओं के अतिरिक्त 'अग्रिम ऋण योजना' (Advance Loan Scheme) की झलक भी इन अभिलेखों में मिलती है। इनसे ज्ञात होता है कि सम्पत्ति जमा करने पर कुछ धन ऋण-स्वरूप मिल जाता था और जब यह धन जमा न करवाया जा सका, तो उसका भुगतान करने की इच्छा महाराजा चामराज औडेयर ने रहनदारों के समक्षक व्यक्त की।

इसप्रकार उपरोक्त विवेचन के आधार पर निष्कर्षरूप से यह कहा जा सकता है कि भारतवर्ष में बैंकिंग-प्रणाली ईसा की दूसरी-तीसरी शताब्दी से पहले विद्यमान थी। आलोच्य-काल में बैंक से सम्बन्धित विभिन्न प्रकार की पद्धतियाँ विद्यमान थीं तथा जमा राशि पर लगभग 12% ब्याज दिया जाता था।

सन्दर्भग्रंथ-सूची

1. ए०इ० भाग 8. नासिक लेख। 2. जै०शि० सं० भाग एक, ले० सं० 93। 3. जै०शि० सं० भाग एक, ले० सं० 98। 4. —वही—ले० सं० 81। 5. —वही—ले० सं० 131। 6. —वही—ले० सं० 97। 7. —वही—ले० सं० 94। 8. —वही—ले० सं० 95। 9. —वही—ले० सं० 412। 10. —वही—ले० सं० 135। 11. —वही—ले० सं० 92। 12. —वही—ले० सं० 495। 13. —वही—ले० सं० 53, 51, 106, 129, 454, 476 आदि। 14. —वही—ले० सं० 433। 15. —वही—ले० सं० 84। 16. —वही—ले० सं० 140। 17. —वही—ले० सं० 91। 18. —वही—ले० सं० 94। 19. जै० शि० सं० भाग एक, ले० सं० 95। 20. —वही—ले० सं० 97। 21. —वही—ले० सं० 128। 22. —वही—ले० सं० 91, 128, 136 आदि। 23. —वही—ले० सं० 84, 140।

श्री ए० महादेवन् ने यह साफ-साफ माना है कि मोहन-जो-दड़ो के सांस्कृतिक विघटन के समय जैनों का जो व्यापारिक विस्तार था उससे भी जैन संस्कृति का एक स्पष्ट परिदृश्य हमारे सामने आता है। उनका कथन है कि उस समय जैन व्यापारियों का मोहन-जो-दड़ो के राष्ट्रकुल में एक प्रतिष्ठित स्थान था और उनकी साख दूर-दूर तक थी। उनकी हुंडियाँ पूरे राष्ट्रकुल में सिरकती थीं। आज से सौ साल पहले एक देश में ऐसी हुंडियों का काफ़ी प्रचलन था। इनकी एक स्वतन्त्र लिपि थी। कुछ कूट-चिह्न भी थे, जो सीलें मोहन-जो-दड़ो में मिली हैं, संभव है उनमें से बहुतेरी जैन व्यापारियों से संबद्ध हों — महादेवन् की इस उपपत्ति पर भी विचार किया जाना चाहिये। —(हड़प्पा और श्रमण-संस्कृति से उद्धृत)

जैनधर्म का तत्त्व-चिन्तन और ग्रीक-दार्शनिक 'प्रो. हाजिमे नाकामुरा' की दृष्टि में

—प्रो० प्रेमसुमन जैन

परमाणुवाद

दर्शन के क्षेत्र में प्रायः यह माना जाता है कि 'परमाणुवाद' भारत और ग्रीस में प्रायः एक ही समय प्रचलित हुआ। ग्रीस में 'डेमोक्रेट्स' (Democrates) को (420 ई०पू०) पहला ग्रीक-दार्शनिक माना जाता है, जो परमाणुवाद पर विस्तार से चिन्तन करता है। उसमें परमाणु के स्वरूप उसके विकास आदि की पद्धति पर प्रकाश डाला है। किन्तु इसके पूर्व जैनदर्शन में परमाणुवाद पर व्यापक-विश्लेषण हो चुका था, जिसका प्रभाव ग्रीक-दर्शन के परमाणुवाद पर पड़ा है। डॉ० हाजिमे नाकामुरा (Hajime Nakamura) यह स्वीकार करते हैं कि भारत में अणु और परमाणु के सिद्धान्त का विश्लेषण सर्वप्रथम जैनआगमों में प्राप्त होता है।¹

ग्रीक-दार्शनिक एनेक्सेगोरस (Anaxogoras) ने सर्वप्रथम आत्मतत्त्व (Spirit) और अजीवतत्त्व (Matter) के बीच स्पष्ट भेद-रेखा अंकित की थी; किन्तु इसके पूर्व जैनदर्शन में जीव और अजीव के स्वरूप पर चिन्तन किया जा चुका था। जैन-दार्शनिक सम्पूर्ण लोक को प्रमुखरूप से दो भागों में विभक्त करते हैं एक जीव और दूसरा अजीव या चेतन और अचेतन। उन्होंने यह स्पष्ट किया है कि संसार में इन दो तत्त्वों को स्पष्टरूप से जाना और अनुभव किया जा सकता है। जैनदर्शन में अजीवतत्त्व को फिर धर्म, अधर्म, आकाश और काल में विभाजित किया गया है। अजीव को 'पुद्गल' कहा गया है। —ये सभी द्रव्य हैं। इनका आत्मतत्त्व से यही स्पष्टभेद है कि इनमें चेतनता और जीवन नहीं पाया जाता।

इन अजीवतत्त्वों में 'काल' के संबंध में दार्शनिक मानते हैं कि वह परिणमनशील है और उसका अस्तित्व है। इस विषय में ग्रीक-दार्शनिक ऐरिस्टोटल (Aristotll) की यह स्पष्ट मान्यता है कि काल का अस्तित्व है, उसमें गति है और वह ऐसा तत्त्व है, जिसका वर्णन किया जा सकता है। यह विचारधारा जैनदर्शन की मान्यता से मेल खाती है। यद्यपि जैनदर्शन में इसमें मतभेद है कि काल को द्रव्य स्वीकार किया जाये या नहीं। विद्वानों ने इस विषय पर विशेष-चिन्तन किया है।²

जैनदर्शन में आकाश को अनन्त माना गया है। उसमें दो भाग हैं— (1) लोकाकाश, जहाँ गति (हलन चलन) संभव है और (2) अलोकाकाश, जहाँ गति नहीं है। सभी द्रव्य लोकाकाश में रहते हैं और अलोकाकाश में द्रव्यों की सत्ता नहीं है। ऐरिस्टोटल (Aristotll) भी प्रायः आकाश के सम्बन्ध में यही विचार रखता है। उसने आकाश के दो भाग किये हैं— (i) चन्द्रमा के नीचे तक के आकाश में जीवन और पदार्थ हैं, तथा (ii) चन्द्रमा के ऊपर के आकाश में जीवन और पदार्थ नहीं हैं। आकाश के सम्बन्ध में जैनदर्शन और ग्रीकदर्शन की विचारधारा में समान-तत्त्व खोजे जा सकते हैं। आकाश-द्रव्य के विषय में दोनों दर्शनों में दार्शनिकों के बीच मतभेद चलता रहा है।³

धर्म और अधर्मद्रव्य के सम्बन्ध में जैनदर्शन ने जो अपने विचार दिये हैं, वे मौलिक हैं। धर्मद्रव्य पदार्थों की गति और अधर्मद्रव्य पदार्थों की स्थिति में सहायक है। इसके उदाहरण भी जैन-ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं। यह विचार वैज्ञानिक-दृष्टि से भी स्वीकार किया गया है।

अजीव-द्रव्यों को जैनदर्शन में 'पुद्गल' कहा है। इसमें वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श—ये चार गुण स्वीकार किये गये हैं।⁴ पुद्गल में अणु, परमाणु और स्कन्ध सम्मिलित हैं। इन्द्रियाँ, मन, शारीरिक अवयव तथा वे सभी वस्तुयें, जिन्हें हम अनुभव करते हैं, पुद्गल में सम्मिलित हैं। पुद्गल को इसी कारण से अनन्त भी माना गया है। इस पुद्गल के प्रमुख भेद हैं— (1) अणु, (2) स्कन्ध। जो कुछ भी दृश्य-जगत् में है, वह 'स्कन्ध' के रूप में जाना जाता है, और जो सूक्ष्मतम द्रव्य की इकाई है, वह 'अणु' के रूप में स्वीकार है। इस विषय में प्राचीन ग्रीक-विचारक ल्यूसीपस (Leucippus) और डेमोक्रीटस (Democritus) के विचार जैनदर्शन से समानता रखते हैं। डेमोक्रीटस खाली (रिक्त) आकाश और अनन्त-भ्रमणशील अणुओं को स्वीकार करता है। केवल उनके स्वरूप और आकार तथा उनके स्कन्ध बनने और अलग होने के विचार में वह मतभेद रखता है।⁵ वह मानता है कि वर्ण, रस, और तापमान अणु के गौण-गुण हैं, मुख्य-गुण नहीं हैं। ग्रीक दार्शनिक ऐपिक्यूरस (Epicurus) ने जो अणु के वजन और उसकी अधोगति के सम्बन्ध में अपने विचार रखे हैं, वे जैनधर्म के विचार से मेल खाते हैं।⁶

जीवतत्त्व का विकास

जैनदर्शन में जीवतत्त्व के सम्बन्ध में विस्तार से चिन्तन किया गया है और उसके स्वरूप एवं विभिन्न गुणों पर सूक्ष्म-दृष्टि से प्रकाश डाला गया है। डॉ० नाकामुरा मानते हैं कि जैनदर्शन में स्वीकृत आत्मा का स्वरूप और डेमोक्रीटस द्वारा प्रतिपादित आत्मा के सिद्धान्त में स्पष्ट-अन्तर है। डेमोक्रीटस मानते हैं कि आत्मा अणुओं से बनी है और उनकी गति से आत्मा में जीवन संचालित होता है। यहाँ चेतन-अणुओं के स्कन्ध को आत्मद्रव्य कहा गया है, जबकि जैनदर्शन आत्मा के स्वरूप में ज्ञान और चैतन्य की सत्ता स्वीकार करते

हैं।⁷ हेलेनिस्टिक (Hellenistic) युग के कुछ ग्रीक-दार्शनिकों का आत्मा-सम्बन्धी सिद्धान्त जैनदर्शन के सिद्धान्त से मिलता-जुलता है, जिसमें शरीर और आत्मा के सम्बन्धों पर प्रकाश डाला गया है। सभी दार्शनिकों ने जैनदर्शन के आत्मा अथवा जीव के आकार के स्वरूप पर आश्चर्य प्रगट किया है कि जैनदर्शन के अनुसार आत्मा हाथी के शरीर में उसके आकार जैसी बड़ी हो जाती है, और चींटी के शरीर में उसके आकार के समान छोटी हो जाती है। इस संबंध में जैनदर्शन में जो उदाहरण दिया गया है, यह बहुत सटीक है कि जैसे प्रकाश एक लालटेन में उसके आकार का हो जाता है और कमरे में फैलकर कमरे के आकार का हो जाता है।⁸ जैनदर्शन में आत्मा पूर्णज्ञान और अनन्तशक्ति से भरी हुई है।⁹

आत्मा और कर्म

जैनदर्शन में आत्मा और कर्म के आपसी-सम्बन्धों पर भी विशेष-प्रकाश डाला गया है। आत्मा की शक्तियाँ और ज्ञान कर्मों के कारण छिप जाते हैं। यही बात ग्रीक दार्शनिक एपिकटेटस (Epictetus) भी कहता है कि इस पृथ्वी पर हम सांसारिक शरीर में एक कैदी की तरह रहते हैं।¹⁰ इसी बात को जैनदर्शन में दिगम्बर-संतों के परिप्रेक्ष्य में कहा गया है कि कर्मों के द्वारा हमारी आत्मा को पहले से ही ढँक दिया गया है, अतः अब साधक को वस्त्र पहिनकर आत्मा को पुनः ढँकने की आवश्यकता नहीं है।¹¹

जैनदर्शन में आत्मा को कर्मों से सर्वथा मुक्त करने की प्रक्रिया वर्णित है। अब आत्मा साधना और तपस्या के द्वारा कर्मों से सर्वथा मुक्त हो जाती है, तब वह 'मुक्त आत्मा' कहलाती है, और तब उसके ज्ञान को 'केवलज्ञान' कहा जाता है। भगवान् महावीर ने अपनी दीर्घ साधना के द्वारा इस अवस्था को प्राप्त किया था। जैन-परम्परा में ऐसी मुक्त-आत्माओं की लम्बी शृंखला है। प्राचीन ग्रीक-दार्शनिक इम्पेडोक्लेस (Empedocles) का जीवन एक जैन-संत के जीवन जैसा था। वह मांसाहार का त्यागी था और स्वयं को शुद्ध-आत्मावाला मानता था।¹² प्लेटो (Plato) का कर्म-सिद्धान्त और मुक्ति का सिद्धान्त जैनदर्शन के सिद्धान्तों से मेल खाता है।¹³

जैनदर्शन के अनुसार कर्मों से मुक्त आत्मायें अपना चरम विकास करती हुई लोक के शिखर पर जाकर पूर्ण-सुख का अनुभव करती हुई सदैव के लिए ठहर जाती है। आत्मा के इस अनन्त-सुख के स्वरूप को पश्चिमी-दार्शनिकों ने भी स्वीकार किया है। ग्रीक-दर्शन में कहा गया है कि आत्मा शरीर में प्रवेश करने के पूर्व अनन्तज्ञान और सुख के स्वरूपवाली होती है।¹⁴ जैनधर्म का प्राथमिक उद्देश्य आत्मस्वरूप को प्रकट करना है, उसे कर्मों से मुक्त करना है। जैनधर्म आचारमूलक अधिक है। इसीलिए एक जैन दार्शनिक ने जैनधर्म को संक्षेप में व्यक्त करते हुए कहा है कि आत्मा में कर्मों के आगमन (आस्रव) संसार का कारण है, अतः कर्मों के आस्रव को रोकना (संवर) ही जैन आचार-संहिता का मूल है, और शेष शिक्षायें तो इसी भावना का विस्तार हैं।¹⁵

अनेकान्तवाद : बहुआयामी दृष्टिकोण

प्रो० हाजिमे नाकामुरा ने अपनी पुस्तक 'ए कम्पेरेटिव हिस्ट्री ऑफ आईडियाज' में प्रमुख-विचारधाराओं का विश्वदर्शनों के परिप्रेक्ष्य में तुलनात्मक-अध्ययन प्रस्तुत किया है। इसमें ईश्वर और मनुष्य, परमतत्त्व की अवधारणा, सुख की अवधारणा, आचारमूलक सिद्धान्त, अणुवाद, सापेक्षवाद और आधुनिक धार्मिक दृष्टिकोणों पर विस्तार से चर्चा की है। इसी प्रसंग में प्रो० नाकामुरा ने जैनतत्त्वदर्शन के प्रमुख केन्द्र-बिन्दु 'अनेकान्तवाद' और 'आत्मसंयम' के कुछ पक्षों पर भी प्रकाश डाला है।

प्रो० नाकामुरा का मानना है कि यदि हम सापेक्षवाद के महत्त्व को स्वीकार करते हैं और अपने क्रियाकलापों के औचित्य पर विचार करते हैं, तो हमें अनेकान्तवाद के बहुआयामी पक्ष को स्वीकारना होगा। इस सिद्धान्त को भारत में स्पष्टरूप से जैनधर्म के द्वारा प्रतिपादित किया गया है, और ग्रीक के कुछ विचारक भी इसका प्रतिनिधित्व करते हैं। जैनधर्म में 'स्याद्वाद' के द्वारा 'अनेकान्तवाद' को व्यक्त किया गया है। इसके अनुसार प्रत्येक निष्कर्ष में अन्य दृष्टिकोणों को जोड़ने की संभावना बनी रहती है। इसको सप्तभंगीनय के नाम से जैनधर्म में व्यक्त किया गया है। संसार की प्रत्येक वस्तु में उत्पाद, व्यय और ध्रुवता सदैव बने रहते हैं।¹⁶ ग्रीक-दार्शनिक डेमोक्रीटस (Democritus) की विचारधारा अनेकान्तवाद के अनुकूल थी। वह विचार करता है कि प्रत्येक वस्तु में हम यह अनुमान नहीं लगा पाते कि वह कैसे है, और कैसे नहीं है।¹⁷ किन्तु इस समस्या को 'प्रमेयकमल मार्तण्ड' में तार्किक दृष्टि से समझाया गया है।¹⁸ इसप्रकार जैनधर्म ने इस सिद्धान्त के द्वारा संसार के स्वरूप को अनन्तरूप में व्यक्त किया है। मानवीय-ज्ञान उसके समक्ष सीमित है। इस सिद्धान्त के द्वारा जैन-चिन्तक गर्वपूर्वक यह भी घोषणा करते हैं कि संसार के विचारों के विविध संघर्ष को 'अनेकान्तवाद' के द्वारा सुलझाया जा सकता है।

ईसापूर्व 43 सन् के विद्वान् एनेसीडेमस (Aenesidemus) के द्वारा प्रतिपादित दस ट्रूपोइ (Teritropoi) के सिद्धान्त की तुलना 'अनेकान्तवाद' और 'सप्तभंगीनय' के साथ की जा सकती है। उन्होंने कहा है कि हवा का झोंका एक युवक को सुखदायी हो सकता है, किन्तु एक वृद्ध-व्यक्ति को वही झोंका कष्टदायक भी हो सकता है। संसार में होनेवाले परिवर्तन वातावरण और स्थिति के अनुसार अलग-अलग प्रभाव डालने वाले होते हैं। अतः प्रत्येक वस्तु बहुआयामी पक्षवाली है।¹⁹ इसीप्रकार एरिस्टीपस (Aristippus) के विचार भी जैनधर्म के अनेकान्त से मिलते-जुलते हैं। वह कहता है कि हम वस्तु को नहीं जानते, केवल उसके अच्छे-बुरे प्रभाव से ही परिचित होते हैं।²⁰ जैनदर्शन में यह पर्याय को जानने की स्थिति है। इसीप्रकार ईसापूर्व 504-501 सन् के विचारक हेराक्लीटस (Heraclitus) प्रसिद्ध सापेक्षवादी विद्वान् हुए हैं, जो यह कहते हैं कि हम नदी में दो बार ताजे पानी का अनुभव नहीं कर सकते, क्योंकि उसमें प्रतिक्षण परिवर्तन होते रहते हैं? अतः निरन्तर

गतिमान वस्तुओं के इस जगत् में अनेकान्तवाद के द्वारा ही उनको समझा जा सकता है। हेराक्लीटस का सापेक्षवाद-सिद्धान्त जैनधर्म के अनेकान्तवाद के अधिक निकट है। वह उदाहरण देता है कि समुद्र का जल सबसे शुद्ध और सबसे अशुद्ध है। क्योंकि जल के प्राणियों के लिए वह पीने के योग्य और सुखदायी है, जबकि वही जल मनुष्य के लिए अपेय और हानिकारक है। वास्तव में परमात्मा के लिए उपयोगी और अच्छी हैं, जबकि मनुष्य ने उन वस्तुओं में से कुछ को सही और कुछ को गलत बताया है।²¹

आत्मसंयम और आचारमूलक धर्म

भारतीय विचारधाराओं में जैनदर्शन कठोर आत्मसंयम और आचार-मीमांसा को प्रतिपादित करनेवाला दर्शन है। उसमें पाँच प्रमुख-व्रतों का विधान गृहस्थों और साधुओं दोनों के लिये किया गया है। इन व्रतों में अहिंसा का विस्तार से प्रतिपादन जैनदर्शन में हुआ है और शाकाहार जैनधर्म के अनुयायियों की प्रमुख जीवनचर्या है। ग्रीक में पाईथागोरस (Pythagoras) के अनुयायी जैनधर्म की जीवन-पद्धति के अनुरूप अपना जीवन व्यतीत करते रहे हैं। जैनधर्म का साधु जीवन कठोर जीवनचर्या से जुड़ा हुआ है, जिसका प्रतिनिधित्व भगवान् महावीर और उनकी परम्परा के सन्त आज भी करते हैं। उपवास उनकी जीवनचर्या का प्रमुख अंग है। इसीप्रकार क्षमाभाव जैनधर्म का प्रमुख-गुण है। आधुनिक-युग में महात्मा गाँधी जैनधर्म को अहिंसा और उपवास के प्रमुख समर्थक रहे हैं। यद्यपि ग्रीकदर्शन में जैनदर्शन जैसी कठोर आचार-मीमांसा को तो स्वीकृति नहीं मिली, किन्तु आत्मसंयम के महत्त्व को वहाँ भी स्वीकार किया गया है।²² पाईथागोरस (Pythagoras) इसका प्रबल-समर्थक रहा है। उसका एक अनुभव व्यक्त करते हुए एक दार्शनिक ने कहा है कि जब पाईथागोरस ने एक व्यक्ति को कुत्ते को मारते हुए देखा, तो उसने उसे रोकते हुए कहा कि रुको, उसे मारो मत, यह कुत्ता भौंककर तुम्हें यह याद दिला रहा है कि तुम मैत्री की आवाज भूल गए हो। अपने भीतर वह मैत्री पैदा करो। पाईथागोरस का यह अनुभव हमें जैनधर्म की उस अहिंसा-भावना की याद दिलाता है, जिसमें किसी भी प्राणी को चोट न पहुँचाने को कहा गया है।²³

जैनदर्शन के प्रमुख-सिद्धान्तों का सम्बन्ध ग्रीक-दर्शन के अतिरिक्त प्राचीन क्रिश्चियन-चिंतकों के जीवनदर्शन से भी रहा है। प्राचीन समय में क्रिश्चियन-सन्त शरीर को आत्मविकास का शत्रु मानते रहे हैं। उनकी मान्यता थी कि जब शरीर अच्छी-वस्तु नहीं है, तो उसको कठोर-संयम द्वारा सजा दी जानी चाहिए। इसलिए कई सन्त गुफाओं, चट्टानों और पहाड़ों पर निवास करते करते थे।²⁴ क्लेमेंट ऑफ एलिकजेण्ड्रिया (Clement of Alexandria) जंगलों में रहता था और उसने संसार नहीं बसाया था। वह केवल छः रोटी के टुकड़े और सब्जियों से ही अपना जीवनयापन करता था। जब उससे पूछा गया कि तुम अपने शरीर को क्यों नष्ट कर रहे हो? तो उसका उत्तर था कि— क्योंकि इस शरीर ने मुझे (आत्मा) को नष्ट किया है।²⁵ इसप्रकार आत्मसंयम का सिद्धान्त सम्पूर्ण विश्व में किसी

न किसी रूप में व्यापक हुआ है।

सन्दर्भ-सूची

1. In India, the concept of the atom (Anu, Paramanu) appeared for the first time in Jaina Scriptures.
—*A Comparative History of Ideas, Motilal Banarsidas, New Delhi, 1992, Page 145.*
2. Matter in Jainism by Dr. J.C. Sikdar, PVRI, Varanasi.
3. A History of Western Philosophy by B. Russell, P. 206.
4. तत्त्वार्थाधिगमभाष्य (उमास्वामी), आ० 5, सूत्र 23।
5. History of Ancient Philosophy, Windelband, translated by Herbert Ernest Cushman, Dover Publication, 1956, p. 162.
6. History of Western Philosophy, B. Russell, P. 246-47.
7. A History of Philosophy by Frederick Copleston, 1946, P. 125.
8. सर्वदर्शनसंग्रह, 4, 20-21, तत्त्वार्थाधिगमसूत्र, अ० 5, सूत्र 6।
9. षडदर्शनसमुच्चय (गुणरत्न), पृ० 74।
10. A History of Western Philosophy, B. Russell, P. 263.
11. सर्वसिद्धान्तसंग्रह, अ० 3, सूत्र 12।
12. The Philosophy of India by R. Garbe, P. 35.
13. A History of Western Philosophy, P. 141-142.
14. Alberuni's India, P. 57.
15. सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० 39।
16. ए कम्पेरेटिव हिस्ट्री ऑफ आईडियाज, पृ० 168।
17. Democritus Fragment, 10.
18. प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृ० 205।
19. Copleston, History, Vol. I, Part Ii, P. 187.
20. Windelband, History, P. 93.
21. Copleston, Vol. I, Part I, P. 55.
22. ए कम्पेरेटिव हिस्ट्री ऑफ आईडियाज, पृ० 176।
23. वही, पृ० 176।
24. मेगस्थनीज इंडिया, पृ० 105।
25. Ecclesiastical History, BK VI, Chapter-XXIX.



नाव और मल्लाह

नदी में नाव को मल्लाह ले जाता है, किसी ने पूछा और मल्लाह को कौन ले जा रहा है? उत्तर मिला, मल्लाह को नाव ले जा रही है। ठीक इसीप्रकार यह जीव 84 लाख योनियों में भ्रमण कर रहा है, दुःख उठा रहा है और जिम्मेदार दूसरों को ठहरा देता है। मनुष्य को कर्तृत्वभाव यानि 'मैं करता हूँ', से बचना चाहिए। यह घोर मिथ्यात्व है। निमित्त कुछ नहीं करता, वह तो कमजोर पर सवार हो जाता है।

—(आचार्यश्री विद्यानन्द जी मुनिराज के प्रवचन का अंश) * *

ओंकार महामंत्र और उसका प्रभाव

—आचार्य राजकुमार जैन

जैन-परम्परा में शब्दशास्त्र एवं उच्चारण-प्रक्रिया का शुभारम्भ ही 'ओम्' या 'ॐ' की मंगलध्वनि से माना गया है। तीर्थकरों की दिव्यध्वनि ऊँकारमयी है, तो प्रत्येक मंत्र के पहिले भी 'ॐ' का उच्चारण अनिवार्य है। यहाँ तक कि पढ़ाई-लिखाई के पहिले ही दिन 'ॐ नमः सिद्धम्' की परिपाटी थी, जिसका बाद में परिवर्तितरूप 'ओनामासीधम्' हो गया। इस 'ॐ' ध्वनि का योगशास्त्र से लेकर पूजाविधानपरक-साहित्य में, तथा व्यावहारिक-जीवन से लेकर उत्कृष्टतम-साधनापद्धति में अबाध-प्रसार एवं प्रभाव माना गया है। इसे अपने आप में एक मंत्ररूप भी माना गया है तथा इसे पंच-परमेष्ठियों के पाँच मंगल-नामों के प्रथमाक्षरों से निष्पन्न भी प्रतिपादित किया गया है। अतः इसका विस्तृत-विवेचन तो हजारों पृष्ठों में हो सकता है, फिर भी इसके बारे में संक्षिप्त-विवेचन इस आलेख में विद्वान् लेखक ने श्रमपूर्वक प्रस्तुत किया है।

—सम्पादक

मंत्रशक्ति अचिन्त्य होती है और उसका प्रभाव किसी सीमा की अपेक्षा नहीं रखता है। कदाचित् मंत्रशक्ति कालजयी भी होती है, जो भौतिक-जगत् को तो प्रभावित करती ही है, हमारे आन्तरिक (मानस एवं बौद्धिक)-जगत् को भी अपेक्षितरूप से प्रभावित करती है। सामान्यतः हम सभी प्राणी (विशेषतः मनुष्य) दो प्रकार के जगत् में जीते हैं। एक हमारा बाह्यजगत् है और दूसरा आन्तरिक-जगत् है, जिसे आध्यात्मिक-जगत् भी कहते हैं। बाह्यजगत् में हमारा सम्पूर्ण समाज होता है, जबकि अन्तर्जगत् में हम अकेले होते हैं। हमारे समग्र-ज्ञान का केन्द्र अन्तर्जगत् है, जो सदैव अन्तस् में ही अधिष्ठित होता है, वह कभी बाहर नहीं आता है। यदि मनुष्यमात्र ज्ञानी ही होता, तो वह नितान्त अकेला होता। वह कभी भी सामाजिक नहीं बन पाता। आज स्थिति यह है कि वह सामाजिक अधिक है और अकेला कम है। हमारा सामाजिक-जीवन निर्मित होता है भाषा के द्वारा, शब्द के द्वारा। जब ज्ञान और भाषा का योग हुआ, तब मनुष्य अन्तर्जगत् से बाह्यजगत् में आया और उसने अपना विस्तार किया। शब्द के माध्यम से मनुष्य के बाह्यजगत् का न केवल निर्माण हुआ, अपितु उसका पर्याप्त-विस्तार भी हुआ।

'ओम्' एक ध्वन्यात्मक शब्द है, जो हमारे सम्पूर्ण अन्तर्जगत् में प्रकट या अप्रकट रूप

में व्याप्त है। वह हमारे आध्यात्मिक-जगत् की प्राणशक्ति है। यह तीन अक्षरों 'अ-उ-म्' के योग से निष्पन्न हुआ है। इसे वैदिक-परम्परा और श्रमण-परम्परा दोनों में समानरूप से अंगीकार किया गया है।

वैदिक-परम्परा के अनुसार 'अ' ब्रह्मावाचक है, 'उ' विष्णुवाचक है और 'म' महेशवाचक है। इसप्रकार 'ओम्' में ब्रह्मा, विष्णु और महेश —ये तीनों शक्तियाँ सन्निविष्ट हैं। मनुष्य जब 'ओंकार' का जप करता है, तब वह अपनी प्राकृतिक-प्राणशक्ति का उपयोग करता है और साथ ही अपने अन्तःकरण में ब्रह्मा, विष्णु और महेश —इन तीनों की शक्ति का अनुभव करता है। इससे एक ओर उसकी प्राणशक्ति जागृत होती है, तो दूसरी ओर उसकी आंतरिक-शक्तियाँ भी क्रमशः विकसित होती जाती हैं। परिणामतः उसका आंतरिक या आध्यात्मिक-जगत् इतना अधिक उन्नत का विकसित हो जाता है कि वह अनेक ऋद्धियों और सिद्धियों का धारक बन जाता है।

श्रमण-परम्परा में भी 'ओम्' या 'ओंकार' को सर्वात्मना अंगीकार किया गया है। श्रमण-मान्यता के अनुसार 'ओम्' पंचपरमेष्ठी वाचक है। पंचपरमेष्ठी में अरिहंत, अशरीर (सिद्ध), आचार्य, उपाध्याय और मुनि (साधु) परिगणित हैं। इन पाँच परमेष्ठियों के आदि अक्षरों का संयोग करने पर 'ओम्' शब्द निष्पन्न होता है— अ+अ+आ+उ+म=ओम्। जैनधर्म के 'णमोकार' या 'नमस्कार महामंत्र' में उपर्युक्त पंचपरमेष्ठियों को नमस्कार किया गया है, जो निम्नप्रकार है—

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं ।

णमो उवज्जायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं ॥

अर्थात् अरिहंतों को नमस्कार, सिद्धों को नमस्कार, आचार्यों को नमस्कार, उपाध्यायों को नमस्कार और लोक के सर्वसाधुओं को नमस्कार।

इसप्रकार सम्पूर्ण 'णमोकार-महामंत्र' 'ओम्' या 'ओंकार' में गर्भित है। एक श्रावक (जैनधर्म पालन-करनेवाला गृहस्थ) जब 'ओम्' या 'ओंकार' का जप करता है, तब वह प्राणशक्ति से समन्वित और लाभान्वित तो होता ही है; साथ ही साथ, पंचपरमेष्ठी से अपनी तन्मयता का अनुभव करता है। उस समय उसकी भावना होती है कि वह भी उन परमेष्ठियों के समान बन जाये। वह भौतिक-विषयों या पदार्थों की आकांक्षा नहीं करता। क्योंकि वह जानता है कि समस्त भौतिक-पदार्थ और विषय नश्वर हैं। उनसे स्थायी-सुख और शान्ति मिलना संभव नहीं है।

'ओम्' की एक अन्य परिकल्पना भी जैनधर्म में अंगीकार की गयी है। तदनुसार यह रत्नत्रयरूप होता है। रत्नत्रय से अभिप्राय है— सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। ये तीनों मोक्षमार्ग के साधनभूत हैं। जब तक मनुष्य में ये तीनों आत्मसात् नहीं हो जाते, तब तक मनुष्य प्रवृत्त में उतनी योग्यता और क्षमता विकसित होना सम्भव नहीं है कि वह

मोक्षमार्ग में प्रवर्तित हो सके। आचार्य उमास्वामी ने 'तत्त्वार्थसूत्र' (अपरनाम मोक्षशास्त्र) में इसी तथ्य का प्रतिपादन करते हुए रत्नत्रय को मोक्षमार्ग या मोक्ष का सोपान निरूपित किया है—

“सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्याणि मोक्षमार्गः ।”

जैनाचार्यों ने 'ओम्' शब्द का विश्लेषण या परिभाषा करते हुए बतलाया कि 'अ' ज्ञान का प्रतीक है, 'उ' दर्शन का प्रतीक है और 'म्' चारित्र्य का प्रतीक है। इन तीन वर्णों (अ+उ+म्) से निष्पन्न 'ओम्' रत्नत्रय का प्रतीक है। इसीलिए जो 'ओम्' या 'ओंकार' की उपासना करता है, वह स्वरूपाचरण करता हुआ स्वरूपावस्थित हो जाता है। यही स्थिति उस चरम-अनुत्तर-लक्ष्य प्राप्ति का साधन बनती है। वस्तुतः मन्त्रशक्ति के द्वारा मनुष्य के अन्तःकरण में जो ऊर्जा प्रस्फुटित होती है, उससे मनुष्य के अन्तस् में एक विशिष्ट प्रकार का रूपान्तर होता है और कतिपय विशिष्ट शक्तियों का विकास होता है। इसे हम जानते हैं और मानते ही हैं। किन्तु कठिनाई यह है कि हम मानते अधिक हैं और जानते कम हैं। ओंकार-मंत्र का जप करनेवालों की भी यही स्थिति है। इसीलिए वे लक्ष्य प्राप्ति से वंचित या दूर रहते हैं। अन्य मंत्रों का जप करनेवालों की भी कुछ ऐसी ही स्थिति है।

'ओम्' या 'ओंकार' एकाक्षरी-महामंत्र है। वह मनोकामना की पूर्ति करनेवाला और मोक्ष देनेवाला होता है। यह योगीजनों के लिए विशेषरूप से अभीष्ट है। इसकी क्रियाशीलता एवं प्रभाव से प्राणशक्ति का विकास होता है, इसलिए इससे मनोकामना की पूर्ति एवं वांछित फल की प्राप्ति होती है। एकाग्रतापूर्वक इसका जप करने से अन्तःकरण शुद्ध होता है और चित्त निर्मल होता है, जो अन्ततः मोक्ष-प्राप्ति में सहायक होता है। ओंकार-महामंत्र की फलश्रुति बतलाते हुए आचार्यों ने लिखा है—

ओंकारं बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः ।

कामदं मोक्षदं देवमोंकाराय नमो नमः । ।

अर्थात् योगीजन नित्य बिंदु-संयुक्त ओंकार का ध्यान करते हैं। कामना की पूर्ति करनेवाले और मोक्ष को देनेवाले ओंकार (ओम्) को बारम्बार नमस्कार है।

योगशास्त्र में 'ओम्' या ओंकार का विशेष महत्त्व है। प्राणायाम में जब श्वासोच्छ्वास के द्वारा प्राणवायु या प्राणतत्त्व को प्रतिष्ठापित करते हैं, तो प्राण-शक्ति अप्रत्याशितरूप से अभिवर्धित हो जाती है। हम निरन्तर श्वास लेते हैं, उसके द्वारा प्राणतत्त्व निरन्तर गतिशील रहता है। प्राण की धारा विद्युत् की धारा की भाँति होती है। वह जितनी बलवती होती है, उतनी ही हमारी क्षमताओं में वृद्धि होती है। हमारे स्थूल शरीर के अन्तस् में विद्यमान तैजस् शरीर के माध्यम से प्राण की धारा निःसृत होती है। वह हमारे सम्पूर्ण जीवन-तंत्र को संचालित करती है। यही कारण है कि हमारा तन्त्र निरन्तर गतिशील रहता है। योग-शास्त्रीय गणना के अनुसार एक व्यक्ति एक दिन (24 घंटे) में इक्कीस

हजार छह सौ बार श्वासोच्छ्वास की क्रिया करता है। यह क्रिया स्वतः होती है। जब वह श्वास लेता है, तब एकप्रकार की ध्वनि होती है। जब श्वास छोड़ता है, तब भी ध्वनि होती है। श्वास लेते समय 'स' की ध्वनि होती है और श्वास छोड़ते समय 'ह' की ध्वनि होती है। ये दोनों सहज ध्वनियाँ हैं, इन दोनों सहज ध्वनियों के आधार पर 'सोऽहम्' का विकास हुआ। 'सोऽहम्' भी मन्त्र-शक्ति से समन्वित है। इसे जपने की आवश्यकता नहीं होती, बिना जपे ही स्वतः इसका जाप हो जाता है, अतः इसे 'अजपा' भी कहा जाता है।

'शिव-स्वरोदय' में 'हकार' को शिवरूप और 'सकार' को शक्तिरूप माना गया है। 'हठयोग' के अनुसार हमारी नासिका के दक्षिण-रन्ध्र से सूर्य या दक्षिण-स्वर संचलित होता है तथा वाम-रन्ध्र से चन्द्र या वाम-स्वर संचलित होता है। अतः 'हकार' सूर्य या दक्षिणस्वर को और 'सकार' चन्द्र या वामस्वर का प्रतिनिधित्व करता है। इन दोनों का साम्य होने पर परमात्मभाव का विकास होता है। तन्त्रशास्त्र के अनुसार सम्पूर्ण वर्णमाला ही 'ओंकार' से उत्पन्न होती है। इसीलिए उसे 'मातृकासु' कहा जाता है।

यदि थोड़ी सूक्ष्मता से देखें और गहराई से विचार करें, तो 'सोऽहम्' और 'ओम्' में हमें अत्यधिक साम्य देखने को मिलता है। दोनों अद्वितीय मन्त्र-शक्ति से समन्वित हैं। दोनों हमारे अन्तर्जगत् एवं प्राणतत्त्व का संचालन करने में विशिष्ट-भूमिका का निर्वाह करते हैं। भाषाशास्त्रीय-दृष्टि और ध्वनि-विश्लेषण के अनुसार 'ओम्' और 'सोऽहम्' में कोई विशेष अन्तर नहीं है। 'सोऽहम्' से जब 'स' और 'ह' हट जाते हैं, तो 'ओम्' रह जाता है। 'ओम्' हमारी प्राणगत ध्वनि है। यह सहज और स्वाभाविकरूप से प्राण के साथ उच्चरित होती है। इसलिए इसका अत्यधिक मूल्य है। 'सोऽहम्' का महत्त्व अपनी ध्वनिगत विशेषता के कारण है। प्राणशक्ति के साथ उसका स्वाभाविक सम्बन्ध है, उसके साथ भावना का सम्बन्ध भी जुड़ा हुआ है, इसलिए उसका महत्त्व है। 'सोऽहम्' का अर्थ होता है— 'वह मैं हूँ' अथवा 'मैं वह हूँ'। अर्थात् जो परमशक्तिमान् परमात्मा है, वह मैं हूँ। इस भावनात्मक-सम्बन्ध के कारण 'सोऽहम्' एक बहुत शक्तिशाली-मंत्र के रूप में प्रतिष्ठापित हो गया। ध्वनिगत-विशेषता और भावनात्मक-संवेदना के कारण महामंत्रों की कोटि में यह स्वतः प्रतिस्थापित हो गया।

इसप्रकार 'सोऽहम्' और 'ओम्' में मौलिकरूप से कोई अन्तर नहीं है। जो अन्तर दृष्टिगत है, वह मात्र शब्द और ध्वनिगत है। इस 'ओम्' का सतत जप करने से जपकर्ता की आत्मा के निर्मलस्वरूप से सीधा सम्पर्क होता है। 'ओम्' मंत्र में एक ऐसी दिव्यशक्ति निहित है, जो हमारे पूर्वोपार्जित-कर्मों का क्षय करके आत्मा को निर्मल एवं आध्यात्मिक-जीवन को उन्नत बनाने के साथ-साथ निश्रेयस् (आत्मिक-कल्याण) और अभ्युदय (भौतिक-समुन्नति) दोनों का मार्ग प्रशस्त करती है। ❖❖

श्री सम्मेदशिखर अष्टक

—विद्यावारिधि डॉ० महेन्द्र सागर प्रचंडिया

शिखरों के समवेत से, बना 'शिखर सम्मेद'।
सिद्धक्षेत्र बन शोभता, छोड़ सभी भय-भेद॥ 1॥

शिखर-शिखर पर राजते, चरण-चिह्न अभिराम।
चरण-चरण से फैलती, शील-सुगंध तमाम॥ 2॥

बीस-विभू की मुक्ति से, बना मुक्ति का धाम।
आकर जीते सभी ने, कर्मों के संग्राम॥ 3॥

गौतम-स्वामी मध्य में, समता लिये अनूप।
आरोही लखते यहाँ, अपना आत्म-स्वरूप॥ 4॥

कुंथनाथ की टोक से, भासे जग निस्सार।
ज्ञान और श्रद्धान से, खुलते अन्तर्द्वार॥ 5॥

पाषर्वनाथ की टोक पर, करें भक्त विश्राम।
अन्तर्मन से पूजते, बनते बिगड़े-काम॥ 6॥

मृत्यु-महोत्सव के लिये, आते संत अनेक।
धन्य-धन्य जीवन करें, जागे विमल-विवेक॥ 7॥

करें वंदना भाव से, एक बार जो कोय।
ताहि नरक-पशु गति नहीं, ऐसी परिणति होय॥ 8॥



शब्द-स्वरूप एवं ध्वनि-विज्ञान

—डॉ० माया जैन

जिसके द्वारा अर्थ का प्रतिपादन होता है, वह शब्द है। जो 'प्राकृतिक' और 'प्रयोगज' दोनों दृष्टियों से उत्पन्न होता है। 'प्राकृतिक' में बादलों की गर्जना को लिया जाता है। और 'प्रयोगज' में वाद्य-विशेष-निःसृत ध्वनि को महत्त्व दिया जाता है। तत्, वितत्, घन, शुषिर, संघर्ष और भाषा ये छह 'प्रयोगज' के भेद हैं। भावों एवं इच्छाओं का प्रमुख कार्य भाषा है। जो विचार-विनिमय से वाक्य के स्वरूप को प्राप्त होती है। वाक्य ही भाषा का सबसे स्वाभाविक और महत्त्वपूर्ण अंग है। वाक्यों के आधार पर ही भाषा की रचना करते हैं और वाक्यों के कारण एवं उनके निर्माण में शब्द अपनी महत्त्वपूर्ण-भूमिका निभाते हैं। कालान्तर में वे ही शब्द ध्वनि की दिशा प्रगट करते हैं। जैसे ही ध्वनि के विषय में विचार किया जाता है, वैसे ही यह प्रगट होता है कि जो वाक्य शब्दों के संयोग से बने हैं, वे ही शब्द ध्वनियों पर आधारित हैं। जो भाषा की प्रमुख-इकाई मानी जाती है।

ध्वनिविज्ञान :— भाषा का संपूर्ण-प्रासाद ध्वनि या शब्द पर आधारित है। प्रत्येक चैतन्य-प्राणी किसी न किसी रूप में वाक्य-प्रयोग करता है। वे वाक्य ध्वनि या शब्द को प्रगट करते हैं। ध्वनियों की प्रत्येक क्रिया विचार-विनिमय, भाव एवं इच्छा अलग-अलग शब्दों का निर्माण करती है। ध्वनियों में ध्वनियंत्र का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। जो निःसृत-ध्वनि या शब्द वायु की सहायता से प्रगट हुई है। वही अलग-अलग स्थान के कारण ध्वनि-परिवर्तन का कारण बनती है। ध्वनि-वर्गीकरण, ध्वनि-क्रिया, ध्वनि-यंत्र आदि का विचार ध्वनि-विज्ञान है। जिसका भाषा शास्त्री दृष्टि से विशेष महत्त्व है।

शब्द और ध्वनि :— जैन-आगमों में शब्द को पुद्गल का विषय माना गया है। परन्तु इसे परिभाषित करते हुये कथन किया गया—

“शब्दो वर्ण-पद-वाक्यत्मिका ध्वनिः” —(लघीयस्त्रय, वृ० पृ० 66)

अर्थात् वर्ण, पद एवं वाक्यात्मक-ध्वनि का नाम शब्द है। जो अर्थ को व्यक्त करता है। जिसके द्वारा अर्थ का ज्ञान कराया जाता है या वस्तु की प्रतीति कराई जाती है। ऐसे उच्चारणमात्र को 'शब्द' कहा जाता है। 'तत्त्वार्थवार्त्तिक' में शब्द का व्युत्पत्ति इसप्रकार की गई है—

“शपत्यर्थमाह्वयति प्रत्यायति शप्यते येन, शपनमात्रं वा शब्दः।”

—(तत्त्वार्थवार्तिक, 5/24)

जो अर्थ का आह्वान करता है या उसकी प्रतीति कराता है तथा जिसके द्वारा पदार्थ का ज्ञान कराया जाता है, वह शब्द है। शब्द या ध्वनि एक ही है, श्रोत्रोन्द्रिय की विषयभूत ध्वनि शब्द कही जाती है। अर्थात् जिसके द्वारा अर्थ जाना जाता है, वह शब्द है। ध्वनि शब्द-वाचक है, शब्द कर्ता, करण और भाव की अपेक्षा को भी लिए हुये है। शब्द भी ध्वनि का नाम है और ध्वनि भी शब्द का अभिधान है।

“शब्दद्यते अभिधीयतेऽभिधेयमनेनेति शब्दो वाचको ध्वनिः।”

—(स्थानां० अभय० वृ०, 186)

शब्द और अक्षर :— शब्द प्रशस्त, घोर और मोक्ष रूप है। जिनका महत्त्व होता है, उतना ही उनके अक्षरों का भी महत्त्व होता है। ध्वनि-परिवर्तन के मूल-विषय में उच्चारण का महत्त्व होता है। उसी उच्चारण आदि के आधार पर स्वर और व्यंजनों का स्थान भी निर्धारित किया जाता है। यदि हम उच्चरित-ध्वनियों की शब्द के आधार पर विश्लेषित करें, तो पता चलेगा कि उसमें एक या कई ध्वनियाँ निश्चित-क्रम से मिली हुई हैं। जैसे तीर्थकर— त्+ई+थ्+^१+क्+अ+र्+अ= ध्वनियाँ समाहित हैं। इनमें विभिन्न शब्दों के उच्चारण से निकली हुई ध्वनियाँ ‘अक्षर’ कहलाती है। क्योंकि इनका ‘क्षर’ अर्थात् विनाश कभी नहीं होता। इन्हीं अक्षरों/ध्वनियों को सामान्य-अक्षर एवं संयोग-अक्षर के रूप में व्यक्त किया जाता है। ‘धवला’ टीका के खण्ड 5, पुस्तक 13 में अक्षर और संयोगाक्षर—ये दो भेद ध्वनि के किये हैं। ‘धवला’ टीका खण्ड 4, पुस्तक 12 में स्वर के प्रयोग में 6 समान स्वर और दो सन्ध्यक्षर के नाम को स्पष्ट किया गया है। जहाँ पुस्तक 13 में संयोगाक्षर और समानाक्षर का कथन किया है, वही पुस्तक 12 में स्वर के विवेचन में सन्ध्यक्षर का प्रयोग किया है—

एदे छच्च समाणा दोग्णि य सञ्जक्खरा सरा अट्ट। —(पृ०286)

(क) समान स्वर — अ आ इ ई उ और ऊ।

(ख) सन्ध्यक्षर — ए और ओ

अर्थात् उक्त प्राकृत में प्रयुक्त समान-स्वर और सन्ध्यक्षर-स्वर में अन्य स्वरों का कथन नहीं किया है, परन्तु ‘धवला’ टीका के खण्ड 5, पुस्तक 13 में स्वरों का वर्गीकरण इसप्रकार किया है—

अ आ आ३। इ ई ई३। उ ऊ ऊ३। ऋ ऋ ऋ३। लृ लृ लृ३। ए ए३। ऐ ऐ३। ओ ओ३। औ औ३। —(सत्तावीसं हवति सव्वसरा, पृ० 248)

स्वर-स्थान

(क) ह्रस्व स्वर :— अ इ उ ऋ लृ। इसके उच्चारण में एक मात्रा का समय लगता है। इसलिये ‘एकमात्रो भवेद्द्वस्वो’ —(पृ०248) कहा है।

‘अ’ का उच्चारण-स्थान कण्ठ है। ‘इ’ का उच्चारण-स्थान तालु, ‘ऋ’ का मूर्धा और ‘लृ’ का दन्त माना गया है तथा ‘उ’ का ओष्ठ-स्थान निर्धारित किया गया।

(ख) दीर्घ स्वर :— आ ई ऊ ऋ ए ऐ ओ औ ‘द्विमात्रो दीर्घ उच्यते’ —(पृ० 248)

इनके उच्चारण में दो मात्रा का समय लगता है। ए ऐ ओ औ को मिश्रित या सन्ध्यक्षर कहा जाता है; क्योंकि ये दो स्वरों के मेल से बनते हैं। यथा— अ+इ=ए, अ+ए=ऐ, अ+उ=ओ, अ+औ=औ। ए और ऐ का उच्चारण-स्थान कण्ठ और तालु है। ओ और औ का उच्चारण-स्थान कण्ठ और ओष्ठ है।

प्लुत :— ‘त्रिमात्रस्तु प्लुतो’ अर्थात् तीन मात्रावाला वर्ण प्लुत कहलाता है। आ आ आ इ, इ ई ई ३ आदि। अक्षरों का उच्चारण मुख के विभिन्न-स्थानों से होता है। अतः उन्हें अक्षरों का उच्चारण-स्थान कहते हैं। सत्ताईस स्वर, तैंतीस व्यंजन और चार अयोगवाह —इसप्रकार कुल 64 वर्ण होते हैं। ‘ज्ञेयो व्यंजनं त्वर्द्धमात्रकम्।’ अर्थात् व्यंजन को अर्द्धमात्रावाला कहा गया है। व्यंजन को भी वर्ग-स्थान दिया गया है।

कवर्ग	—	क् ख् ग् घ् ङ्
चवर्ग	—	च् छ् ज् झ् ञ्
टवर्ग	—	ट् ठ् ड् ढ् ण्
तवर्ग	—	त् थ् द् ध् न्
पवर्ग	—	प् फ् ब् भ् म्
अंतस्थ	—	य् व् र् ल्
ऊष्म	—	श् ष् स् ह्

जितने भी व्यंजन हैं, उनमें अकार जुड़ा हुआ है। यह उच्चारण की सुविधा से है। वास्तव में इन्हें हलन्त— क् ख् ग् घ् ङ् आदि के रूप में उच्चरित किया जाता है। ध्वनि माधुर्य की दृष्टि से वर्ग के प्रथम एवं तृतीय वर्ण परुष/कठोर है। वर्गों के द्वितीय, चतुर्थ, पंचम वर्ण तथा य् र् ल् व् ह् मृदु-व्यंजन हैं। तथा वर्ग के अंतिम ङ् ञ् ण् न् म् —ये पाँच वर्ण ‘अनुनासिक’ कहलाते हैं। प्रत्येक वर्ण का उच्चारण-स्थान भी अलग-अलग है। ‘कवर्ग’ तथा ‘ह’ का उच्चारण स्थान ‘कण्ठ’ है। ‘चवर्ग, य् और श्’ का उच्चारण-स्थान ‘तालु’ है। ‘टवर्ग, र और ष्’ का उच्चारण-स्थान ‘मूर्धा’ है। ‘तवर्ग, ल् और स्’ का उच्चारण-स्थान ‘दन्त’ है।

अक्षर विकल्प क्या है?

‘सोर्दियस्स विसओ सद्दो’ शब्द —श्रोतेन्द्रिय का विषय है, वह तत-वितत आदि रूप है। जैसा कि ‘धवला’ टीका में कथन किया गया कि अक्षर श्रुतज्ञान का विकल्प है। इनमें भी अक्षर और संयोगाक्षर दोनों का भी विशेष महत्त्व है। 64 अक्षरों से 64 श्रुतज्ञान के विकल्प होते हैं और उनके आवरणों का प्रमाण भी 64 होता है। अपने स्वरूप और स्वभाव को नहीं छोड़ने के कारण अक्षर हानि और वृद्धि से रहित हैं।

अनक्षर भाषा

अक्षर के साथ-साथ अनक्षर का भी भाषा की दृष्टि से महत्त्व है। दो इन्द्रिय से लेकर असंज्ञी-पंचेन्द्रिय-पर्यन्त जीवों की जो अपने-अपने संकेत प्रगट करनेवाली भाषा होती है, वह 'अनक्षरगता भाषा' कहलाती है। उच्छ्वसित, निःश्वसित, निष्प्लूत, कासित छींक आदि अनुस्वार के समान उच्चारण किये जाने वाले हुंकार आदि की ध्वनि 'अनक्षर रूप' है।

इसप्रकार जितने अक्षर होते हैं, उनके अर्थ की अपनी विशेषता होती है। इसीतरह जब वे ही अक्षर संयोग या सन्ध्यक्षर के रूप में व्यक्त किये जाते हैं, तब भी उन अक्षरों की संख्या का विकल्प 64 ही होता है। 64 अक्षरों की एक अपनी विशेषता है, स्वररहित 'कवर्ग' का अनुसरण करनेवाले संयोग में उत्पन्न हुई धारणाओं का संयोगाक्षरों में समावेश हो जाता है। —सरविरहिय कवग्गानुसारिसंजोगम्हिसमुप्पण्णाणं धारणाणं संजोगक्खरेसु पवेसादो । —5/5 (पृ० 249)। इसी 64 संख्या में गणित का निर्देश भी किया है। उसका अक्षर की दृष्टि से विशेष महत्त्व है।

अक्षर-संयोग पर प्रश्न किया गया कि 64 अक्षरों की संख्या का 'विरलन' कर और उसे द्विगुणित कर वर्गित, समवर्गित करने पर एक-संयोगी और दो-संयोगी आदि विकल्प कैसे हो सकते हैं? इसका समाधान दिया एक साथ उच्चारण करने का नाम 'संयोग' है। इसलिये गणित की दृष्टि के साथ-साथ अक्षर की दृष्टि भी है तथा उसके स्थान भी हैं। इसी आधार पर संयोग को एकार्थता नाम दिया गया।

अक्षरों का प्रमाण :— जैसाकि पूर्व में कथन किया गया कि जितने अक्षर हैं, उतने ही श्रुतज्ञान हैं। क्योंकि एक-एक अक्षर से एक-एक श्रुतज्ञान की उत्पत्ति होती है। ध्वलाकार ने इसी आधार पर अक्षरों का प्रमाण भी दिया है।

(क) वगक्खरा पंचवीस — वर्गाक्षर पच्चीस हैं।

(ख) अंतत्था चत्तारि — अंतस्थ चार हैं।

(ग) चत्तारि उम्हक्खरा — ऊष्माक्षर चार हैं।

स्वर, व्यंजन एवं अयोगवाह के कारण अक्षर 64 हैं। जैसा कि कथन किया है

तेत्तीस वंजणाइं सत्तावीसं हवंति सब्वसरा ।

चत्तारि अजोगवहा एवं चउसट्ठि वण्णाओ ।। 5/5 (पृ० 248)

इसप्रकार शब्द, वर्ण और अक्षर का अपना स्थान है। 64 अक्षरों से 64 श्रुतज्ञान के विकल्प हैं। और उनके आवरणों का प्रमाण भी 64 है। संयोग-आवरण भी 64 हैं। अतः किसी भी भाषा के लिये इनकी ध्वनि महत्त्वपूर्ण है। वे अलग-अलग रूप में ह्रस्व, दीर्घ आदि होती है। ध्वनि में भी आगम, लोप और विपर्यय का स्थान तथा संधि, समास, स्वर-घात, स्वर भक्ति अघोषीकरण, महाप्राणीकरण, ऊष्मीकरण एवं य-व-श्रुति आदि प्राकृत की प्रमुखता है। शौरसेनी में भी ध्वनि का महत्त्व है। ❖❖

शाकाहारियों के लिये ब्रिटेन में बीमा सस्ता होगा

भारत में शाकाहारियों की अच्छी खासी तादाद है, मगर उनकी असली कद्र ब्रिटेन में ही है, जहाँ राष्ट्रीय शाकाहारी सप्ताह मनाया गया। शाकाहार सप्ताह के दौरान एक ब्रिटिश बीमा कंपनी ने शाकाहार के प्रति इन लोगों का प्रेम और भी बढ़ा दिया है। इस बीमा कंपनी ने शाकाहारियों से मांसाहारियों की अपेक्षा कम-प्रीमियम लेने का फैसला किया है। उसका मानना है शाकाहारियों के साथ रिस्क फैक्टर मांसाहारियों की अपेक्षा कम होता है। यह ठीक उसी तरह से जैसे धूम्रपान करनेवालों में बीमा-कंपनियाँ अधिक प्रीमियम वसूलती हैं, क्योंकि उनके जल्दी मरने का जोखिम आम- लोगों की अपेक्षा अधिक होता है।

लंबे समय से शाकाहार का समर्थन करनेवाले और 'एनिमल फ्रेंड्स इनश्योरेंस कंपनी' के डायरेक्टर क्रिस फेयरफैक्स बताते हैं कि ब्रिटिश बीमा कंपनियों ने अब तक शाकाहार और सेहत पर उसके असर को पहचाना नहीं है। हमने शाकाहारियों के लिए कम प्रीमियम की योजना शुरूकर इस बात पर मुहर लगाई है कि शाकाहारी-लोग मांसाहारियों की अपेक्षा अधिक स्वस्थ और लंबा-जीवन जीते हैं। ब्रिटेन में लगभग 40 लाख लोग शाकाहारी हैं। फेयरबैक्स बताते हैं कि उनकी वेजिटेरियन पॉलिसी का 60 फीसदी हिस्सा एशियाई लोगों में बेचा जायेगा।

वह बताते हैं कि पिछले दिनों एक शाकाहारी भारतीय-व्यापारी मेरे पास अपना 15 लाख पौंड का बीमा करवाने आया था। उसे इस बात पर बेहद आश्चर्य हुआ, जब उसे मालूम हुआ कि यहाँ से उसे किसी भी जगह की तुलना में करीब आधा प्रीमियम ही देना होगा। वैसे अब हर कोई इस बात को मान रहा है कि शाकाहारी-लोग सेहत के मामले में अधिक सुरक्षित होते हैं, इसलिए बीमा कराने पर उनका अधिकार है कि वे औरों से कम-प्रीमियम दें।

ब्रिटिश मेडिकल एसोसिएशन का कहना है कि शाकाहारियों में गंभीर-बीमारियों, मसलन कैंसर या हृदयरोग अथवा जीवनशैली से जुड़े रोग, मसलन मोटापा, तनाव, मधुमेह या कब्ज की आशंका कम होती है। बीमा-उद्योग के विश्लेषक भी यह मानते हैं कि शाकाहारियों के लिए आसान-प्रीमियम-दरें रखना तर्कसंगत है। ब्रिटेन में हाल ही में पशुओं में मैड काऊ और खुरपका, मुंहपका बीमारियों के बाद से यह बात और मजबूत हुई है।

फेयरफैक्स की वेजिटेरियन-बीमा-योजना का फायदा उठाने में शायद कई सितारे भी

शामिल होंगे। इनमें रिचर्ड गेयर, डेमी मूर, फैशन डिजाइनर स्टेला मैक कार्टने, पॉप सिंगर ब्रायन एडम्स और 59 वर्षीय पूर्व-बीटल-गायक पॉल मैक कार्टन जैसे नाम भी शामिल हैं। ये सभी हस्तिायों अपने शाकाहार-प्रेम के लिए जानी जाती हैं। मैक कार्टन ने पिछले दिनों कहा था कि “शाकाहार के कारण ही मैं इस उम्र में भी विश्व-भ्रमण करने जा रहा हूँ, जब लोग रिटायर होने की तैयारी करने लगते हैं।”

—(साभार उद्धृत — नवभारत टाइम्स से)



आध्ययन-विधि

“ततोऽस्य पञ्चमे वर्षे प्रथमतरदर्शने ।
 ज्ञेयः क्रियाविधिर्नाम्ना लिपिसंख्यानसंग्रहः ॥
 यथाविभवमत्रापि ज्ञेयः पूजापरिच्छदः ।
 उपाध्यायपदे चास्य मतोऽधीती गृहव्रती ॥

—(आचार्य जिनसेन, आदिपुराण, 38/248)

अर्थ:— तदनन्द पाँचवें वर्ष में कोमलमति बालक को सर्वप्रथम अक्षरों का दर्शन कराने के लिए लिपि ‘संख्यान’ नाम की क्रिया की विधि की जाती है।

इस क्रिया में भी अपने वैभव के अनुसार सरस्वती पूजा आदि की सामग्री जुटानी चाहिये और अध्ययन करने में कुशल चारित्रवान् गृहस्थाचार्य को ही उस बालक के उपाध्याय (अध्यापक) के पद पर नियुक्त करना चाहिये।

प्राप्ते तु पञ्चमे वर्षे विद्यारम्भं च कारयेत् इति,
 स वृत्तचूलश्चलकाकपक्षकैरमात्यपुत्रैः सवयोभिरन्वितः ।
 लिपेर्यथावद्ग्रहणेन वाङ्मये नदीमुखेनेव समुद्रमाविशत् ॥

—(रघुवंश, 3/28)

महाराज अयोध्यापति दिलीप ने अपने आत्मज कुमार रघु का यथाविधि चूडाकर्म (गर्भकेश-मुण्डन) संस्कार किया। वह कुमार शिर पर नये निकले मसृणमदुर श्यामकेशों से (जिन्हें कौवे के पंखों जैसा कृष्ण होने से काकपक्ष कहते हैं) शोभायमान अपने समान तुल्य रूप-वयः मंत्रिपुत्रों के साथ गुरुकुल में जाने लगा। वहाँ उसने स्वरव्यञ्जनात्मिका लिपि का ज्ञान प्राप्त किया, जिससे उसे शब्द-वाक्यादिरूप आरम्भिक वाङ्मय में प्रवेश करना उसीप्रकार सरल हो गया, जैसे नदी में बहकर आनेवाले किसी मकरादि जलचर पशु को समुद्र-प्रवेश सुलभ हो जाता है।

रावण नहीं फूँका जायेगा अब दशहरे पर

—सुरेशचन्द्र सिन्हा

रावण आदि के पुतलों का दहन करना जैन-परंपरा में सूक्ष्मजीवों की द्रव्यहिंसा के साथ-साथ रावण आदि के प्रति भावहिंसारूप होने के कारण सदा से निषिद्ध रहा है। इसका कृत-कारित-अनुमोदना से विरोध जैन मनीषीगण चिरकाल से करते रहे हैं। अब हर्ष की बात यह है कि आज के रामलीला-आयोजकों को भी इस दिशा में विवेक-बोध जागृत हो रहा है। नीचे लिखे विचारों को हम अविकलरूप में मात्र इसी अहिंसक-अभिप्राय से प्रस्तुत कर रहे हैं। अन्य दार्शनिक साम्प्रदायिक मान्यताओं को सहमति देने का भाव हमारा नहीं है।

—सम्पादक

इस बार विजयदशमी पर रावण नहीं फूँका जाएगा, न लंका-दहन होगा और न ही शूर्पणखा की नाक कटेगी। दिल्ली की मशहूर रामलीला कमेटी 'लवकुश' ने यह फैसला किया है। इस बार पुतले तो जलेंगे, लेकिन जातिवाद, उग्रवाद और भ्रष्टाचार के। रामलीला महासंघ के अध्यक्ष, 'लवकुश' के महासचिव सुखवीर शरण अग्रवाल के अनुसार, विश्व के बदलते माहौल के मद्देनजर यह निर्णय लिया गया है। आज सारा विश्व सद्भावना और भाईचारे का माहौल बनाने की दिशा में प्रयत्नशील है। हम यह संदेश देना चाहते हैं कि लंका हमारा पड़ोसी राष्ट्र है और लंका-दहन के दृश्य का मंचनकर हम नफरत का संदेश देना नहीं चाहते।

रामलीला महासंघ के अध्यक्ष का कहना है कि मुगल बादशाह बहादुरशाह जफर के जमाने से ही दिल्ली में रामलीलाओं के बाद विजयदशमी के दिन रावण का पुतला फूँका जाता रहा है, लेकिन अब बदले समय में रामलीला के आयोजकों को भी चाहिए कि वे पुराने किस्से-कहानियों को नए परिप्रेक्ष्य में देखें। राम-रावण युद्ध दरअसल दो संस्कृतियों, आर्य और द्रविड़ का टकराव था। श्रीराम तो हमारे पूज्य हैं। रावण ब्राह्मण था, प्रकांड विद्वान् था, वेदों का ज्ञाता था। आज भी दक्षिण में कई जगह उसकी पूजा होती है।

रावण का पुतला फूँकना सही मायने में ब्रह्म-हत्या है और अब हम ऐसा करना नहीं चाहते। शायद आपको मालूम होगा कि जब 'रामेश्वरम' में भगवान राम ने शिवलिंग की स्थापना की थी, तो पूजन के लिए रावण को बुलवाया था। रावण आया और उसने विधिपूर्वक पूजा करवाई। जिस रावण को भगवान् राम ने भी मान्यता दी थी, उसें जलाना हमें शोभा नहीं देता।

यह पूछे जाने पर कि फिर उन कारीगरों, कलाकारों का क्या होगा जो वर्षों से रावण, मेघनाद और कुंभकरण के पुतले बनाकर अपनी आजीविका चला रहे हैं, अग्रवाल ने कहा कि उनकी रोजी-रोटी पर कोई असर नहीं पड़ेगा। फर्क सिर्फ यह होगा कि अब वे रावण, मेघनाद और कुंभकरण की जगह जातिवाद, उग्रवाद और भ्रष्टाचार के पुतले बनाएंगे और अब विजयदशमी के दिन इन्हीं को जलाया जायेगा। ये तीनों समस्यों हमारे देश और संस्कृति को खोखला कर रही हैं।

रही रावण की बहन शूर्पणखा की नाक काटने की बात तो इस बारे में महासंघ के अध्यक्ष का कहना है कि दरअसल, शूर्पणखा की नाक काटने की घटना तो सांकेतिक है। खूबसूरत शूर्पणखा ने तो महज राम या फिर लक्ष्मण से शादी की याचना की थी, पर वनवासी राम और बाद में लक्ष्मण ने मना कर दिया था। यह उसका अपमान था, यानी उसकी नाक कट गई थी। उसने यह बात रावण से कहकर उसे युद्ध के लिए भड़काया था। राम या लक्ष्मण जैसा व्यक्ति कभी किसी नारी का अंग-भंग नहीं कर सकता और इसी बात के मद्देनजर इस बात की 'लवकुश' रामलीला के मंचन में शूर्पणखा की नाक काटने का दृश्य नहीं दिखाया जायेगा। ऐसा करना पूरी नारी-जाति का अमान है।

फिलहाल सिर्फ 'लवकुश-रामलीला कमेटी' ने यह फैसला किया है, लेकिन रामलीला महासंघ के अध्यक्ष अग्रवाल को उम्मीद है कि महासंघ की जल्दी ही होने वाली बैठक में राजधानी की अन्य छोटी-बड़ी रामलीलाओं के पदाधिकारी भी इस बात पर सहमत हो जायेंगे।



कलियुग

जब पांडव अपने दिन अज्ञात वास में बिता रहे थे, तब एक दिन वे शिकार खेलने निकले। रास्ते में एक जगह भीम को प्यास लग गई। वे पानी खोजते हुए कुछ दूर स्थित एक सरोवर तक आ पहुँचे। उन्होंने देखा कि वहाँ एक धर्मशाला भी बनी थी, जिसमें तीन कमरे थे। एक कमरे में एक विचित्र भैंसा बंधा था, जो दोनों तरफ से चारा खा रहा था। दूसरे कमरे में एक हंस था, जिसे कौवे चोंच मार-मार कर घायल किए दे रहे थे। तीसरे में मिट्टी के बर्तन रखे थे, जो अकारण आपस में टकरा रहे थे और फूट रहे थे। भीम चकित हो गए और बिना पानी लिए ही लौट आए। आकर उन्होंने यह विचित्र-वृत्तांत युधिष्ठिर को सुनाया।

युधिष्ठिर ने उनकी शंका का शमन करते हुए कहा, 'तुम कलियुग को देखकर आए हो। कलियुग में ऐसे ही अधिकारी होंगे, जो वेतन भी लेंगे और रिश्वत भी। दोनों ओर से खाने वाला भैंसा इसी का प्रतीक है। हंस वह सत्पुरुष है, जिसे कलियुग में दुर्जन नोंच-नोंच कर खायेंगे और यह पीड़ा वह सहन करेगा। एक ही कुम्हार के परस्पर टकराकर टूटनेवाले बर्तन वास्तव में एक ही पिता के परस्पर लड़कर मिटनेवाले भाई हैं।'

भीम 'कलियुग' का यह प्रकोप सुनकर हतप्रभ रह गए। —(साभार, नवभारत टाइम्स)

गधों से गधे की तरह काम लेने पर रोक : 8 घंटे की इयूटी तय

खबरदार ! अब गधों से 'गधे' जैसा काम नहीं लिया जा सकेगा । ये कोई बंदर-भभकी नहीं, बल्कि एक कानूनन-हकीकत है । अब से अगर किसी आदमी ने गधे से आठ घंटे से ज्यादा काम लिया, तो उसकी खैर नहीं । उसे तीन साल तक की कैद हो सकती है ।

पशुओं के बारे में 'क्रूरता-निरोधक-कानून' में हाल में किए गए संशोधन के अनुसार अब गधे की सेवा शर्तों को इंसानों की सेवा-शर्तों के मुताबिक ढालते हुए सुनिश्चित कर दिया गया है कि कोई गधे से आठ घंटे से ज्यादा काम नहीं लेगा और यही नहीं, उसे हर तीन घंटे पर पानी पीने और छह घंटे बाद खाना खाने की भी छुट्टी दी जायेगी, साथ ही यह भी तय किया गया है कि गधों से सूर्यास्त से सूर्योदय के बीच कोई काम नहीं कराया जायेगा ।

1965 में बने 'पशु-क्रूरता-निरोधक-कानून' में हाल में किए गए एक संशोधन के बारे में जारी अधिसूचना में गधे की सेवा-शर्तों इंसानों की सेवा-शर्तों के करीब लाने की कोशिश की गई है और यह सेवा-शर्तें गधों पर लागू नहीं होंगी; बल्कि उसकी नस्ल के करीबी जानवरों जैसे घोड़े, टट्टू और खच्चरों पर भी लागू होगी ।

इन सेवा-शर्तों में गधों की काम की सीमा भी तय की गई है । ऐसा नहीं है कि इन आठ घंटों में आप उनसे अनाप-शनाप गधों की तरह ही काम कराते रहेंगे । इन आठ घंटों के दौरान आप उन्हें प्रतिघंटा छह किलोमीटर और पूरे कार्यदिवस में हद से हद 45 किलोमीटर तक ही पैदल चलवा सकेंगे । गधे, घोड़े, टट्टू और खच्चर ही नहीं गाय, भैंस, भेड़, बकरियों और सूअरों को भी इस नए कानून के तहत काफी छूट दी गई है ।

हाल ही में भारत के राजपत्र में जारी इस अधिसूचना के अनुसार गाय और भैंसों को भी अब एक जगह से दूसरी जगह पैदल ले जाते समय प्रतिदिन आठ घंटे से ज्यादा नहीं हांका जा सकेगा । गायों को प्रति घंटा चार किलोमीटर की रफ्तार से और आठ घंटों में हद से हद 30 कि०मी० लंबा हांका जा सकेगा । इस दौरान उसे प्रत्येक दो घंटे बाद पीने के लिए पानी और चार घंटे बाद भोजन के लिए विश्राम देना अनिवार्य होगा । भैंस को गाय से भी ज्यादा आराम दिया गया है । उन्हें प्रति घंटा तीन किलोमीटर और आठ घंटे में ज्यादा से ज्यादा 25 कि०मी० ही हांकने की अनुमति होगी । इसके अलावा गाय और भैंस के बछड़ों को दिनभर में छह घंटे से ज्यादा नहीं हांका जा सकेगा, और उन्हें प्रति घंटा ढाई कि०मी० तथा छह घंटे में अधिकतम 16 कि०मी० पैदल चलाने की अनुमति होगी । अधिसूचना में यह भी स्पष्ट कर दिया

गया है कि भारी वर्षा, आंधी, तूफान या भीषण सूखे या उमस के मौसम में जानवरों के काफिलों को पैदल ले जाने की अनुमति नहीं होगी। सामाजिक न्याय एवं अधिकारिता मंत्रालय द्वारा जारी इस अधिसूचना के अनुसार जानवरों का काफिला हांकते समय उन्हें तीन घंटे पर पानी पिलाने के बाद 20 मिनट का और चारा खिलाने के बाद एक घंटे का विश्राम दिया जायेगा।

ऐसी शिकायतें अक्सर सुनने में आती रहती हैं कि जानवरों विशेषतः गाय-भैसों के काफिलों को बिना चारा-पानी के निरंतर मीलों-मील चलाया जाता है और रास्ते में भूखा-प्यासा, थका-हारा कोई पशु यदि निढाल होकर गिर जाये, तो उसे जबरन चलने को मजबूर करने के लिए उसकी आंखों या गुप्तांगों में मिर्च डाल दी जाती है या पूंछ ही तोड़ दी जाती है। अधिसूचना में चेतावनी दी गई है कि कोई भी व्यक्ति पशुओं को चलने या उसकी चाल में तेजी लाने के लिए मजबूर करने के उद्देश्य से किसी चाबुक या लाठी का प्रयोग नहीं करेगा और न ही पशु के शरीर के किसी भाग में मिर्च या अन्य पदार्थ का इस्तेमाल करेगा।

पैदल हाँके जाने वाले प्रत्येक पशु की बाबत पशु-चिकित्सक से यह प्रमाणपत्र लेना होगा कि वह पैदल हाँके जाने की हालत में है और उसे कोई संक्रामक या परजीवी-रोग नहीं है। जिन पशुओं ने पिछले 72 घंटों के दौरान जन्म दिया है या अगले कुछ दिनों में जन्म देने की संभावना है, उन्हें तथा ऐसे नवजात-पशुओं जिनकी नाभि पूरी तरह सूखी नहीं है, अस्वस्थ, अंधे-लंगड़े या थके-हारे हैं, को पैदल काफिले में शामिल नहीं किया जा सकेगा।

लंबी दूरी तक हाँके जाने वाले काफिलों के पशुओं में आपसी मेल-मिलाप की भी व्यवस्था की गई है, जिससे वे एक-दूसरे से भटकें नहीं। इसमें कहा गया है कि पैदल काफिला शुरू होने से कम से कम एक सप्ताह पहले उसमें शामिल होने वाले पशुओं को 'आन फार्म सामाजिक समूह' में एक साथ रखा जाये। ये नियम पशुओं को पैदल हांकने की उस स्थिति में लागू होंगे, जब ऐसे काफिले के आरंभ के गाँव, शहर या नगर की सीमा के अंतिम-लक्ष्य की दूरी पाँच किलोमीटर या उससे अधिक हो।

ऐसे काफिले के दौरान पशुओं के स्वामी या उन्हें हांकनेवाले व्यक्ति के पास पशुओं के लिए पर्याप्त प्राथमिक-चिकित्सा-सामग्री और पानी तथा चारे की उपलब्धता भी अनिवार्य कर दी गई है। यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि पशुओं को हांकने के दौरान यदि किसी पशु को बांधने की आवश्यकता हुई, तो उसके सिर्फ गले में ही रस्सी बांधी जा सकेगी, पैर या नाक में नहीं और यह रस्सी भी चारों तरफ से गद्दीदार वस्तु से लिपटी होनी चाहिए। यह भी कि एक रस्सी में दो से ज्यादा पशु नहीं बांधे जायेंगे और दोनों के बीच की दूरी कम से कम दो फुट हो और एक रस्सी में बंधे दोनों जानवरों का शारीरिक-सामर्थ्य भी एक जैसा हो। इन नियमों का उल्लंघन करते पाये जाने पर सिपाही के ऊपर के पद के किसी भी पुलिस अधिकारी को पशुओं के स्वामी को निकटतम मैजिस्ट्रेट के पास ले जाने का अधिकार होगा, जहाँ उसे सजा दिलवाई जा सके। —(साभार उद्धृत — पंजाब केसरी, 29 जून, 2001, पृ०सं० 12) ❖❖

जैन आगम-साहित्य में प्रतिपादित श्रमणों के मूलगुण

—डॉ० जिनेन्द्र जैन

भारतीय-संस्कृति में ब्राह्मण-संस्कृति व श्रमण-संस्कृति — इन दोनों की धारार्ये प्रवाहित हो रही हैं। इसीलिये ब्राह्मण-संस्कृति को प्रतिष्ठित करते हुए कहा गया है कि “अग्निहोत्रादि-अनुष्ठान करनेवाला गृहस्थ ही श्रेष्ठ है।”¹ महाभारत में भी ज्येष्ठाश्रमो गृही² कहकर उक्त-कथन का समर्थन किया गया है। जबकि श्रमण-संस्कृति ने श्रमण-जीवन को ही अधिक महत्त्व दिया। यही कारण है कि जैन-आगमों में चाहे प्रथमानुयोग का प्रसंग हो, चाहे करणानुयोग का हो या फिर द्रव्यानुयोग का, उनमें किसी न किसी रूप में चरणानुयोग के सूत्र बीजरूप में बिखरे हुए प्राप्त हो जाते हैं।

श्रमण-संस्कृति ने आध्यात्मिक-विकास पर अत्यधिक बल दिया है। श्रमण का आध्यात्मिक विकास-क्रम (गुणस्थान की अपेक्षा से) में छठा-स्थान है। वह यदि निरन्तर आचारधर्म को परिष्कृत करते हुए ऊर्ध्वमुखी-विकास करता रहे, तो अन्त में चौदहवें-गुणस्थान की भव्य-भूमिका में पहुँच जाता है और फिर सदा-सर्वदा के लिए सिद्ध-बुद्ध और मुक्त हो जाता है। जैन-श्रमणों की प्रव्रज्या का मूल उद्देश्य कहा गया है — विभाव से हटकर स्वभाव में रमण करना, परभाव से हटकर स्वभाव में आना, प्रदर्शन के स्थान पर आत्मदर्शन करना आदि। और इन उद्देश्यों को प्रकट करनेवाले अनेक-सूत्र जैसे—“जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ, जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ³, संपिक्खए अप्पगमप्पएणं आदि जैन-आगमों में भरे पड़े हैं।

आचार की शुद्धता के बिना मनुष्य न तो दुःखों से ही मुक्त हो सकता और न ही शाश्वत-सुख प्राप्त कर सकता है। प्रत्येक प्राणी की आत्मा में, जो अप्रकटरूप में परमात्मा है, अनंतशक्ति विद्यमान है, जिसको प्राप्त करने के लिए ‘आचार-मार्ग’ का अनुसरण अनिवार्य है। जैनधर्म में आचारमार्ग के दो रूप प्रतिपादित हैं — प्रथम वह रूप, जिसमें व्यक्ति व्रतादि आचारधर्म का देश, काल व शक्ति आदि के अनुसार एकदेश-पालन करता है। जैनधर्म में उसे ‘श्रावकाचार’ कहा जाता है। और द्वितीय वह रूप जिसे साक्षात् मुक्ति का कारण कहा जाता है। इसमें महाव्रतादिरूप आचारधर्म का सर्वदेश व अखण्ड-पालन करना अनिवार्य है, ऐसा वह आचारधर्म मुनि-आचार या ‘श्रमणाचार’ कहा जाता है। अतः यहाँ पर मुनियों-श्रमणों के मूलगुण व उत्तरगुण-स्वरूप आचारधर्म के आंशिक आगमिक-

संदर्भों को प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

आगमेतर-साहित्य — उपांग व व्याख्या-साहित्य तथा परवर्ती-साहित्य में भी आचारधर्म से अनुप्राणित उन सूत्रों को बड़ी सूक्ष्मता के साथ स्पष्ट किया गया है। मुक्ति का अव्याबाध-सुख प्राप्त करने का मूल आचार है।⁴ मोक्ष का साक्षात्- कारण आचार ही है। इसीतरह ज्ञान और दर्शन का सार भी 'आचार' कहा गया है।⁵ प्रवचन में चारित्रसंयमरूप आचारधर्म के फल की आराधना कही गयी है। इसप्रकार आचार की प्रमुखता के कारण ही आगम समग्र जैन-आचार की आधारशिला कहे गये हैं। श्रमण-जीवन की साधना का जो शब्द-चित्र 'आचारांग' (अर्धमागधी) व 'मूलाचार' (शौरसेनी) में उपलब्ध होता है, वह अनुपमेय व अनूठा है।

जैनागम पर आचारात्मक दृष्टि

श्वेताम्बर-जैन-आम्नाय के अनुसार महावीर की संकलित द्वादशांगी-वाणी में आचारधर्म का प्रतिपादन करनेवाला प्रधान-ग्रंथ है— 'आचारांग'। उसके प्रत्येक अध्ययन में श्रमण-धर्म के मूलगुणों से सम्बन्धित विवेचन दिया गया है। 'शस्त्रपरिज्ञा' नामक प्रथम अध्ययन में हिंसा का वर्जन कर साधु को अहिंसाधर्म में प्रतिष्ठित रहने का निर्देश दिया गया है। 'लोकविजय' नामक द्वितीय अध्ययन में कषायों को तप व संयम के माध्यम से जीतने का उल्लेख किया गया है। परीषहों को जीतकर अनुकूल-प्रतिकूल अवस्था में समताधर्म का दृढ़ता से पालन-करानेवाला शीतोष्णीय-अध्ययन है। शेष अध्ययनों में कर्ममल को नष्ट कर साररूप मोक्ष का वर्णन किया गया है। द्वितीय-श्रुतस्कंध में भी श्रमणाचार का प्रतिपादन किया गया है। 'सूत्रकृतांग' के प्रथम-श्रुतस्कंध के प्रथम से लेकर दसवें-स्थान तक गृहस्थ और श्रमणों की आचार संहिता दी गई है। 'समवायांग' में भी महाव्रतों, समितियों, तप, परीषहों आदि मूल व उत्तर गुणों को सम्मिलितरूप में व्याख्यायित किया गया है। 'भगवतीसूत्र' तो एक ऐसा ग्रंथ है, जिसमें विश्व की प्रत्येक विद्या को प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप में निरूपित किया है। अतः श्रमण धर्म की सूक्ष्मता के साथ विवेचन इस ग्रंथ में किया गया है। अनेक धर्मकथाओं के माध्यम से श्रमण-जीवन की आध्यात्मिक शुद्धि व विकास को 'ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र' में बहुत ही सुन्दर ढंग से दिया गया है। 'प्रश्नव्याकरण' में पांचों स्वर द्वारों द्वारा किया गया निरूपण महाव्रत की पृष्ठभूमि में सहयोगी है। साथ ही उन व्रतों की भावनाओं द्वारा भी श्रमणाचार-संहिता का विश्लेषण किया गया है। 'उत्तराध्ययनसूत्र' व 'दशवैकालिक' नामक मूलसूत्र श्रमणाचार के मेरुदण्ड है। इनके अध्ययन-अध्यापन के बिना श्रमण का आचारधर्म नहीं जाना जा सकता। शौरसेनी-आगम तथा उसकी परम्परा में लिखित साहित्य में भी श्रमणधर्म को पर्याप्त-विवेचन किया गया है। सिद्धान्त-ग्रन्थों के अतिरिक्त नियमासार, अष्टपाहुड, मूलाचार, भगवती-आराधनाकार आदि ग्रन्थों में भी श्रमण के आचारधर्म को व्याख्यायित किया गया है।

मूलगुण

‘मूल’ और ‘गुण’ इन शब्दों के मेल से बना है— मूलगुण। इसमें ‘मूल’ शब्द का अर्थ है— मुख्य अथवा प्रधान। तथा ‘गुण’ शब्द का अर्थ है— धर्म, स्वभाव, इन्द्रियजन्य स्वभाव, लक्षण, विशेषता, श्रेष्ठता, उपयोग, फल, शुभपरिणाम, धागा आदि।⁷ किन्तु यहाँ पर धर्म धर्म-स्वभाव या लक्षण अर्थ ही अभिधेय हैं। अतः श्रमणों के मुख्य-धर्म या स्वभाव को ही ‘मूलगुण’ कहा जाता है। ये गुण साधु को अनिवार्यरूप से पालन करना होता है। मुमुक्षु को दीक्षा के समय जिन महाव्रतों आदि गुणों को अखण्डरूप में धारण कर उनका सर्वदश पालन करना अनिवार्य कहा गया है, वे मूलगुण हैं। श्रमणधर्म कषायों का उपशमन, राग-द्वेष की निवृत्ति तथा शान्ति और समतारूप है। श्रमण-वेष में प्रतिष्ठित जीव जहाँ अपनी बाह्य विशुद्धि करता है, वहीं आत्मकल्याण के निमित्त, कषायों का उपशमन, राग-द्वेष की निवृत्ति, शांति आदि के द्वारा अपना आध्यात्मिक-समुत्कर्ष भी करता है। जिसके उल्लेख जैनागमों में यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं।

श्रमण के दो चिह्न (लिंग) — अंतरंग और बहिरंग, कहे गये हैं। अंतरंग अर्थात् मूर्च्छा और आरम्भरहित, उपयोग व योगयुक्त तथा परापेक्षा-रहित, ऐसा श्रमण्य का लिंग तथा यथाजात-बालक के समान शुद्ध, अकिंचन्य एवं निर्विकाररूप बहिरंग-लिंग के धारक श्रमण की परिपूर्णता तभी है, जब वह ज्ञान, दर्शन और चारित्र में आरूढ़ एकाग्रचित्त हो प्रयत्नपूर्वक मूलगुणों का पालन करता है।⁸

मुनि जिन मूलगुणों को धारणकर श्रमणधर्म में दीक्षित होता है, उनकी संख्या 27 व 28 दी गई है। अर्धमागधी में इनकी संख्या 27 निर्दिष्ट है, जबकि शौरसेनी आगमों में मूलगुणों की 28 संख्या का उल्लेख किया गया है। मूलगुणों के नामों की सूची नीचे दी जा रही है :—

मूलाचार में वर्णित⁹

पंचमहाव्रतः¹¹

1. अहिंसा
2. सत्य
3. अचौर्य
4. ब्रह्मचर्य
5. अपरिग्रह

पाँच समितियाँ¹²

6. ईर्यासमिति
7. भाषासमिति
8. एषणासमिति
9. निक्षेपादान समिति
10. प्रतिष्ठापना-समिति

समवायांगसूत्र में वर्णित¹⁰

पाँच महाव्रत

1. प्राणातिपात-विरमण
2. मृषावाद-विरमण,
3. अदत्तादान-विरमण,
4. मैथुन-विरमण,
5. परिग्रह-विरमण,

पाँच इन्द्रिय-निग्रह :

6. श्रोतेन्द्रिय-निग्रह
7. चक्षुरिन्द्रिय-निग्रह
8. घ्राणेन्द्रिय-निग्रह
9. रसनेन्द्रिय-निग्रह
10. स्पर्शेन्द्रिय-निग्रह

पाँच इन्द्रिय-निग्रह¹³

11. चक्षुरिन्द्रिय-निग्रह
12. श्रात्रतेन्द्रिय-निग्रह
13. घ्राणेन्द्रिय-निग्रह
14. जिह्वा दन्द्रिय-निग्रह
15. स्पशेन्द्रिय-निग्रह

षडावश्यक¹⁴ :—

16. सामायिक
17. चतुर्विंशतिस्तव
18. वंदना
19. प्रतिक्रमण
20. प्रत्याख्यान
21. कायोत्सर्ग

सात अन्य मूलगुण :—

22. लोच (केशलौच)
23. आचेलक्य
24. अस्नान
25. क्षितिशयन
26. अदन्तघर्षण
27. स्थितिभोजन
28. एक भक्त

चार कषायों का त्याग :

11. क्रोधत्याग
12. मानत्याग
13. मायात्याग
14. लोभत्याग

अन्य गुण

15. भावसत्य (आंतरिक पवित्रता)
16. करणसत्य (क्रिया/उपाधि की पवित्रता)
17. योगसत्य (मन, वचन, काय का सम्यक प्रवर्तन)
18. क्षमा
19. विरागता

20. मन-समाधारणता (संकोचन)
21. वचन-समाधारणता (संकोचन)
22. काय-समाधारणता (संकोचन)
23. ज्ञान-सम्पन्नता
24. दर्शन-सम्पन्नता
25. चारित्र-सम्पन्नता
26. वेदना-अधिसहन
27. मरणान्तिक-अधिसहन

श्रमणाचार का प्रारम्भ उपर्युक्त मूलगुणों से होता है। जिस क्षण से श्रमणधर्म स्वीकार किया जाता है, उसी क्षण से सभी प्रकार के सावद्यक्रियारूपों का त्रिविधयोग व त्रिकरण की विशुद्धि द्वारा सदा के लिये त्याग किया जाता है।¹⁵ 'पंचाध्यायी' में भी कहा है— वृक्षमूल के समान¹⁶ मुनि के इन मूलगुणों में न तो कभी न्यूनता होगी और न ही अधिकता। इनसे ही मुनिधर्म सिद्ध हो सकेगा।¹⁷ जो मुनि मूलगुणों को छोड़कर बाह्ययोग करता है, ऐसे साधु के सभी योग निरर्थक हो जाते हैं। इसीलिये कहा है कि मूलगुणों से विहीन साधु उत्तरगुणों के द्वारा कर्मक्षय नहीं कर सकता।¹⁸ केवल उत्तरगुणों के परिपालन में प्रयत्नशील एवं पूजा-प्रतिष्ठा आदि की निरन्तर इच्छा करनेवाले श्रमण का प्रयत्न मूलघातक होता है।¹⁹

'समवायांगसूत्र' एवं 'मूलाचार' में निर्दिष्ट उक्त मूलगुणों के अतिरिक्त उत्तराध्ययनसूत्र

शान्तिसूरिकृत वृहदवृत्ति²⁰, आचार्य हरिभद्रकृत आवश्यकवृत्ति,²¹ प्रवचनसार²² एवं भगवती आराधना²³ आदि ग्रंथों में भी मूलगुणों का उल्लेख किया गया है। 'भगवती-सूत्र'²⁴ एवं प्रकीर्णक²⁵-साहित्य में अनगार के मूलगुण और उत्तरगुण के भेदों का उल्लेख किया है; किन्तु उनका नामोल्लेख वहाँ नहीं किया गया। बल्कि इन गुणों की आराधना में किसी प्रकार की हुई विराधना का प्रत्याख्यान करने की चर्चा की गई है।

यहाँ यह बात विशेष उल्लेखनीय है कि मूलगुणों की संख्या में जहाँ 27 गुणों का निर्देश 'समवायांग' में किया गया है, परवर्ती टीका-साहित्य में उनके नामों में पर्याप्त-अंतर दिखाई देता है। 'उत्तराध्ययन वृहदवृत्ति' एवं 'आवश्यकवृत्ति' में नामोल्लेख में एकरूपता है। अर्थात् जहाँ 'समवायांग' में क्रोध, मान, माया और लोभ — इन चार गुणों का त्याग तथा योगसत्य, ज्ञान, दर्शन व चारित्र-सम्पन्नता को स्वीकृत किया गया है, वही उक्त दोनों वृत्तियों में इन गुणों के स्थान पर रात्रिभोजन, त्याग, पृथ्वी-अप-तेजसु-वायु-वनस्पति और त्रस — इन षट्कायिक जीवों का संयम और योग-युक्तता — इन आठ मूलगुणों को स्वीकृत किया गया है।

इसीप्रकार 'मूलाचार' में निर्दिष्ट गुणों के नामों तथा 'समवायांग' और दोनों वृत्तियों में उल्लिखित मूलगुणों के नामों में एवं संख्या में भी अंतर दिखाई देता है। किन्तु परम्परा की दृष्टि से एक दो मूलगुण को छोड़कर शेष मूलगुणों को सूक्ष्मता से यदि अध्ययन करें, तो दोनों ग्रंथों में मान्य-गुण या तो मूलगुणों में समाहित हैं, या उत्तरगुणों में। दोनों ग्रंथों की तालिका में पाँच महाव्रतों एवं 5 इन्द्रिय-निग्रह का समान विधान है। समितियों को मूलगुणों में रखने पर चारों कषायों के वर्जन का समाहार हो जाता है। जबकि 'समवायांग' में चारों कषायों को मूलगुणों में रखा गया है। और समितियों का उत्तरगुणों में समावेश हो जाता है। 'केशलौच' नामक मूलगुण 'काय-समाधारणता' (संकोचन-क्लेश) में निहित है। इसीप्रकार षडावश्यक मुनियों की दैनिक आचार-संहिता (क्रिया-कलाप) के अंतर्गत मान्य है। और षट्कायिक जीवों के प्रति संयम का विधान 'अहिंसा' नामक प्रथम मूलगुण में निहित कहा जा सकता है। 'अष्ट प्रवचनमाता'²⁶ का उल्लेख जैनागमों में मिलता है। वे 5 समितियाँ एवं 3 गुप्तियाँ मिलकर 'अष्ट-प्रवचनमाता' कही गई है। जिन्हें श्रमण अनिवार्यरूप से पालता है। महाव्रतों को सुरक्षित रखने तथा धर्म में एकनिष्ठ रहने-हेतु 'प्रवचनमाता' का विशेष महत्त्व व योगदान है। आचेलक्य का उल्लेख साधु के 10 स्थितिकल्पों²⁷ में सर्वप्रथम किया गया है। अर्धमागधी-आगम में स्थिति-भोजन का विधान नहीं है, क्योंकि आहार स्वस्थान पर लाकर करने का विधान है। इसका उल्लेख 'दशवैकालिक सूत्र'²⁸ में विस्तार से किया गया है।

इसतरह दोनों परम्पराओं के ग्रंथों में जहाँ मूलगुणों के नामों में वैविध्य है, वहाँ मात्र शाब्दिक-भेद ही प्रधान है। यद्यपि मूलगुणों के अनन्तर पालन करने योग्य उत्तरगुणों में दृढ़ता इन्हीं मूलगुणों निमित्त से ही प्राप्त होती है। अतः सूक्ष्मता से इनका अध्ययन करने

पर हम यह कह सकते हैं कि परम्पराभेदमूलक गुण (नाग्न्य या आचेलक्य) के अतिरिक्त शेष समस्त मूलगुणों की विद्यमानता किसी न किसी रूप में दोनों जगह है।

सन्दर्भ ग्रंथ-सूची

1. मनुस्मृति 6/89।
2. महाभारत, शान्तिपर्व 23/5।
3. आयारो, 3/4/74।
4. भगवती आराधना, गाथा 11।
5. वही, 11।
6. वही, 14।
7. संस्कृत-हिन्दी कोश (आप्टे), पृ० 346।
8. प्रवचनसार, गाथा 202-7, तथा 214 एवं 242।
9. मूलाचार, 1/2-3।
10. समवायांगसूत्र, समवाय 27/1।
11. मूलाचार, 1/4।
12. वही, 1/10।
13. वही, 1/16।
14. वही, 1/22।
15. मूलाचार 9/34 (802)।
16. वृक्षमूल से तात्पर्य है 'हरित वनस्पति'। उसके तृण, छाल, पत्ते, कोंपल, कंदमूल, फल, पुष्प, बीज आदि सभी के घात का निषेध श्रमण-धर्म में है।
17. पंचाध्यायी, उत्तरार्द्ध, 743-44।
18. (क) मूलाचार 10/27(920), (ख) मूलाचार, आचारवृत्ति टीका 10/27।
19. पंचविंशतिका (पटानन्दि) 1/40।
20. उत्तराध्ययनसूत्र 31/18, वृहद्वृत्ति, पत्र 6/6।
21. आवश्यक-हारिभद्रीया वृत्ति, पृ० 113।
22. प्रवचनसार, 208।
23. भगवती आराधना में यत्र-तत्र सम्पूर्ण ग्रंथ में अनगार के मूलगुणों का विवेचन हुआ है।
24. भगवतीसूत्र, 7/2।
25. प्रकीर्णक - महाप्रत्याख्यान गाथा 12, प्रकाशक — आगम, अ०सं०प्रा०सं० उदयपुर 1912।
26. उत्तराध्ययनसूत्र 24/1।
27. (क) भगवती आराधना 421, (ख) कल्पसूत्र में (i) सामायिक संगम। (ii) छेदोपस्थापनी संयम। (iii) निर्विश्रयमान, (iv) निविष्ट कायिक, (v) जिन्नकल्प, (vi) स्थिविरकल्प स्थिति — इन 6 कल्पस्थिति का उल्लेख किया गया है।
28. दशवैकालिकसूत्र के 'पिण्डैषणा' एवं 'द्रुमपुष्पिका' नामक अध्ययन विशेष द्रष्टव्य हैं।



विदिशा के बड़े जैन मन्दिर के कुछ मूर्ति-लेख

—कुन्दन लाल जैन

‘विदिशा’ को यूरोपीय विद्वान् अपने उच्चारण की सुविधा के लिये ‘भिलसा, भेलसा, भीलसा’ आदि नामों का प्रयोग करते थे, पर स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् प्राचीनतम-ग्रन्थों में उल्लिखित ‘विदिशा’ नाम ही सुनिश्चित किया गया। प्रागैतिहासिक काल में यह भगवान् शीतलनाथ की जन्मभूमि भद्विलपुर, भद्रावली आदि नामों से विख्यात रही है। गुप्तकाल के ऐतिहासिक प्रमाण यहाँ उपलब्ध होते हैं। उदयगिरि की कुछ जैन गुफायें तो गुप्तकाल से भी प्राचीन लगती हैं, अतः यह प्रदेश जैन-संस्कृति के प्राचीनतम-स्थलों में से एक है। पास ही सांची के बौद्ध-स्तूपों में जहाँ महात्मा बुद्ध के शिष्य सारिपुत्त और महामौगलायन के अस्थि-अवशेष प्राप्त हुये हैं, के तुल्य प्राचीनता तो इस प्रदेश को प्राप्त होती ही है, अतः विदिशा के और अधिक प्राचीन इतिहास की विशेष चर्चा न करते हुये यहाँ के बड़े मंदिर की चर्चा करूँगा, जहाँ बहुत सी प्राचीन मूर्तियाँ प्रतिष्ठित हैं, जिनके मूर्ति-लेख यहाँ प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

विदिशा का प्राचीनतम जैन-मंदिर ‘शीतलनाथ दिगम्बर जैन बड़ा मन्दिर’ के नाम से विख्यात है, जो लगभग ढाई सौ वर्ष प्राचीन है। प्रारंभ में यह एक चैत्यालय के रूप में प्रतिष्ठित किया गया था, जिसकी पुष्टि समवसरण के दक्षिणद्वार के ऊपर छोटे आले में उत्कीर्णित आलेख से होती है। आलेख निम्नप्रकार है— “श्री आदि जिन सं० 1759 वर्षे बैसाख सुदी 10 शनीचर श्री मूलसंधे, सरस्वती गच्छे, बलात्कारगणे भट्टारक श्री पद्मकीर्ति देवास्तत्पदे भ० श्री सकलकीर्ति देवास्तत्पहे भ० श्री सुरेन्द्रकीर्ति देवास्तच्छिष्य ब्र० शांतिदासस्य सुतेन पं० भागीरथेन इदं चैत्यालयं कारापितं। वर्धतां जिनशासनं शुभं भवतु कल्याणमस्तु श्रीगुरुचरण त्रिकालवंदना प्रणमति। श्री श्री श्री।”

इसी तिथि का एक और आलेख वहाँ विद्यमान है जिससे कुछ और अधिक भवन निर्माण की सूचना मिलती है, जो निम्नप्रकार है:—

“श्री आदिजिन प्रशस्तवंदनाख्याताः चतुर्विंशति सं० 1759 वर्षे बैसाख सुदी 10 शनीचर श्री मूलसंधे सरस्वती गच्छे कुंदकुदाचार्यान्वये भ० धर्मकीर्ति देवास्तत्पट्टे भ० श्री पद्मकीर्ति देवास्तत्पट्टे भ० जगत्कीर्ति देवास्तत्पट्टे भ० श्री सकलकीर्ति देवास्तत्पट्टे

भ० त्रिभुवनकीर्ति भ० चन्द्रकीर्ति ब्रह्मचारी शांतिदासः तत्पुत्र पं० भागीरथ पं० सभाचंद बडकुर नन्दलाला भ्राता लाला भंगवंतराय बडकुर गोरेदास श्यामदास सिंघई लालमनि व बंसीदास, भैय्या टोडरमल पटेल, हंसराज, भैय्या.... दास बनिए दास..... बंगुला बनाई हंसराज व श्यामदास।”

धीरे-धीरे वह चैत्यालय बढ़ता-बढ़ता आज इतने विशाल परिसर वाला बड़ा भारी जिनमंदिर बन गया है, जो विदिशा की शान है और इसकी प्रसिद्धि किले के भीतर के 'बड़े मंदिर' के नाम से जानी जाती है और विदिशा के 20-25 जिन मंदिरों में सर्वश्रेष्ठ है और ऐतिहासिक दृष्टि से सर्वाधिक प्रतिष्ठित है।

उपर्युक्त आलेखों तथा मूर्तियों में उल्लिखित नामावली से यह सुस्पष्ट होता है कि यहाँ 'बलात्कार गण' की 'जेरहट' शाखा के भट्टारकों का वर्चस्व रहा है तथा उनके ब्रह्मचारी शांतिदास जी प्रतिष्ठित धार्मिक पुरुष थे, जिनके पुत्र भागीरथ और समीचंद इस मंदिर के मूल-अधिष्ठाता रहे और बाद में धीरे-धीरे उन्हीं के प्रयास से यह मन्दिर आगे बढ़ता रहा। यहाँ एक महत्त्वपूर्ण कृति मुनि महाकीर्ति की विद्यमान है, जिन्होंने सल्लेखना-धारण कर समाधिमरण लिया होगा; इसीलिये इस मूर्ति का निर्माण किया गया होगा। इस मूर्ति पर तीन पंक्तियों का आलेख उत्कीर्णित है। इस मूर्ति की चर्चा अन्यत्र की गई है, सुधी पाठक 'अनेकान्त दर्पण' का वार्षिक अंक देखें।

अंतः इस मंदिर की कुछ मूर्तियों के मूर्ति लेख यथावत् प्रस्तुत किये जा रहे हैं। यहाँ उदयगिरि के पास बेतवा और धसान नदी का संगम-स्थल भी अतिप्रसिद्ध है।

इस लेख की तैयारी में श्री गुलाबचंद जी राजकमल स्टोर्स, श्री लक्ष्मीचंद जी 'रसिक' तथा श्री बाबूलाल जी पूर्व-रजिस्ट्रार का सहयोग प्राप्त हुआ, अतः तीनों महानुभावों के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ। ❖❖

धर्म ही पार उतारेगा

एक प्यासा हाथी तालाब में गया और कीचड़ में फंस गया। उसे निकालने छोटे-छोटे अनेक पशु आए, लेकिन निकाल नहीं पाये। आचार्य ने कहा “इसे निकालने के लिए तो दूसरा हाथी ही लाना पड़ेगा, वही इसे बाहर निकाल सकता है।” ठीक इसीप्रकार मनुष्य स्वयं ही संसार सागर (कीचड़) में फंस रहा है, केवल धर्म ही उसे पार उतार सकता है। तीर्थंकर राम, कृष्ण आदि जितने भी महापुरुष हुए हैं, सब धर्म के कारण ही महान् बने हैं। हमें धर्म की छत्र-छाया ही पार उतारेगी, अतः धर्म की ही शरण लो।

—(आचार्यश्री विद्यानन्द जी मुनिराज के प्रवचन का अंश)

यूनीकोड ने देवनागरी के 'हलन्त' को 'विराम' बना दिया

—विनोद वाष्णेय

'यूनीकोड' भारतीय भाषाओं की कंप्यूटर-तकनालॉजियों के विकास में बाधा बना हुआ है। लिपियों के विश्वस्तरीय मानकीकरण के नाम पर 'यूनीकोड' कंसोर्शियम बनाया गया था। लक्ष्य था कि दुनिया की समस्त लिपियों-संबंधी सॉफ्टवेयर एक ही मानक-कोड 'यूनीकोड' के आधार पर तैयार हों।

लेकिन 'यूनीकोड' ने भारतीय-भाषाओं के खिलाफ कई अन्याय किये हैं। 'सूचना-प्रौद्योगिकी मंत्रालय' की ओर से भाषायी-तकनालॉजी मसले पर पिछले दिनों आयोजित एक बैठक में भाग लेने आये विशेषज्ञों के अनुसार भारत को 'यूनीकोड' का बहिष्कार कर देना चाहिए, जिस तरह चीन और जापान ने किया है। उधर इस मसले पर सरकारी-राय है कि हमें 'यूनीकोड' स्वीकार कर लेना चाहिए; क्योंकि भविष्य में प्रचलन इसी का होने वाला है। माइक्रोसॉफ्ट, ऑरैकल जैसी सभी बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ इसको अपना रही हैं। भारत इस मामले में शेष दुनिया से कटकर नहीं रह सकता।

भारत ने हाल ही में 'यूनीकोड-संकुल' (कंसोर्शियम) की सदस्यता ग्रहण की है और इसे वोटिंग-अधिकार भी मिला है। वोट की इस ताकत के आधार पर कहा जा रहा है "यूनीकोड के नये संस्करण में भारतीय-भाषाओं के साथ हुई ज्यादतियों को दूर कर दिया जाएगा।" लेकिन विशेषज्ञ पूछते हैं कि "क्या यूनीकोड की शर्तें इसकी इजाजत देंगी। निष्पक्ष विशेषज्ञों का मानना है कि यूनीकोड की शर्तों में शामिल है कि जब एक अक्षर (करैक्टर) को कोडबद्ध कर दिया जाएगा, तो इस कोड को न फिर हटाया जाएगा और न ही उसका नाम व स्थान बदला जाएगा।" विशेषज्ञ पूछते हैं कि "ऐसी स्थिति है, तो यूनीकोड में देवनागरी के 'हलन्त' को जो 'विराम' नाम दे दिया गया है उसे कैसे ठीक किया जाएगा?" इसीतरह की समस्यायें यूनीकोड में कई हैं। मसलन उड़िया-भाषा के कोड में देवनागरी के 'व' का उड़िया-समानक गायब है। तमिल के विसर्ग को लेकर भी समस्यायें हैं।

उल्लेखनीय है कि भारतीय भाषाओं के लिए देश में पहले से ही मानक तय किये जा चुके हैं। लेकिन 'यूनीकोड' में इसके पुराने (1988 के) संस्करण को ही शामिल किया गया है, जबकि 1991 का संस्करण तैयार था। विशेषज्ञों को आशंका है कि भारत को बेशक

वोटिंग-अधिकार मिला है, जो एक तरह से वीटो अधिकार के समकक्ष है, इसके बावजूद चार साल बाद जब यूनीकोड का चौथा-संस्करण जारी किया जाएगा, तो भारत उसमें अपनी भाषाओं की जरूरतों के माफिक परिवर्तन नहीं करा पाएगा। विशेषज्ञों का कहना है कि यूनीकोड एकतरह से बहुराष्ट्रीय सॉफ्टवेयर कंपनियों की व्यापारिक-दादागीरी है और भारत को इसे स्वीकार नहीं करना चाहिए। हमने जब अपने मानक तय किये हैं, तो हमें उन पर ही कायम रहना चाहिए, न कि यूनीकोड के चक्कर में अपने हितों को छोड़ना चाहिए। लेकिन सरकार से कहीं ज्यादा भारत का सॉफ्टवेयर-उद्योग इस मामले में सुविधा की स्थिति में है।

भारतीय-मानकों को 'इस्की' (इंडियन स्क्रिप्ट स्टैंडर्ड फॉर स्टैंडर्ड कोड इन्फॉर्मेशन इंटरचेंज) के नाम से जाना जाता है। इसकी अच्छाई यह बताई जाती है कि यह भारत की चौदह-भाषाओं के कंप्यूटर-आधारित-लिप्यंतरण (ट्रान्सलिटरेशन) का काम बहुत आसानी से कर सकता है। इसके अलावा विभिन्न भारतीय भाषाओं को एक ही टेक्स्ट में साथ-साथ लिखना हो, जैसे बंगला के साथ गुजराती या हिन्दी के साथ कन्नड़, तो वह काम आसानी से किया जा सकता है। 'यूनीकोड' से यह संभव नहीं।

—(राष्ट्रीय हिन्दी दैनिक से साभार उद्धृत)



एक ही गुण सम्पूर्ण दोषों को दूर कर देता है

‘व्यालाश्रयापि विफलापि संकटकापि,
वक्रापि पंकिलभवापि दुरासदापि।
एकेन बंधुरसकेतकी सर्वजन्तु,
एको गुणः खलु निहंति समस्तदोषं।।’

अर्थ :— केतकी-पुष्प का वृक्ष सर्प से लिपटा होता है, फलरहित होता है, कांटे सहित होता है, वक्र होत है, कीचड़ में पैदा होता है, दुरासद होता है; तथापि सभी को बन्धु जैसे प्रिय होता है, क्योंकि उसका एक सुगंधमय गुण ही उसके सम्पूर्ण दोषों को नष्ट कर देता है।

एक बार एक विदेशी पर्यटक भारत आया। कर्नाटक राज्य के बेलगाम नामक ग्राम में उसने देखा कि किसी ने घास चलते हुए गधे के पाँव में रस्सी बाँध रखी है।

विदेशी पर्यटक यह देखकर आश्चर्यचकित एवं दुःखी हो गया कि भारत जैसे अहिंसाप्रधान संस्कृतिवाले देश में ऐसा कैसे है।

उसने आगे बढ़कर गधे के पैर खोल दिये।

खण्डहरी का वैभव

—डॉ० रमेशचन्द्र जैन

श्री दिगम्बर जैन अतिशयक्षेत्र सीरोन (ललितपुर, उ०प्र०) नवोदित-तीर्थ है। करीब दो माह पूर्व वहाँ से कुछ विशिष्ट कलाकृतियाँ प्राप्त हुई हैं, जिनका संक्षिप्त विवरण इसप्रकार है—

नेमिनाथ मूर्ति :— पद्मासन नेमिनाथ प्रतिमा का कटि से नीचे का अलंकृत-भाग प्राप्त हुआ है। आसन पर बेलबूटे बने हुए हैं। इन बेलबूटों के नीचे शंख की आकृति उत्कीर्ण है। इससे द्योतित होता है कि मूल-प्रतिमा नेमिनाथ भगवान् की रही है। शंख-चिह्न के साथ तिहरी कटिनी बनी हुई है। नीचे दो सिंह बने हुए हैं, जो सजीव से लगते हैं। दोनों सिंहों के मध्य में चक्र बना हुआ है। सिंहों के दोनों ओर दो स्तम्भ बने हुए हैं, जो तीन भागों में विभाजित हैं। स्तम्भों के नीचे और ऊपर कलाकृति है। स्तम्भों के ऊपर चौकी बनी हुई है। दोनों स्तम्भों के ठीक ऊपर कलाकृति है। स्तम्भों के ऊपर चौकी बनी हुई है। दोनों स्तम्भों के ठीक ऊपर चौकी के पायों पर कमल उत्कीर्ण हैं। सिंहों के नीचे की वेदी के किनारे कमल की पंखुड़ी बनाई गई है। मूर्ति के बाईं ओर चँवर लिये यक्षिणी बनी हुई है। यक्षिणी का चँवर लिये हुये एक हाथ ऊपर की ओर उठा हुआ है, दूसरा हाथ कटि से नीचे रखे हुए है। यक्षिणी के समीप कुबेर की आकृति का एक पुरुष बैठा हुआ है, जिसके कान वक्षःस्थल, हाथ, पैर, जंघायें आभूषणों से अलंकृत हैं। दायीं ओर धनुष धारण किये हुये है। बायें हाथ में नारियलनुमा कोई वस्तु लिये हुए है। कुबेर-मूर्ति के केश विशेष-अलंकृत हैं। कुबेर के बायीं ओर स्तम्भ बना हुआ है। कुबेर के ऊपर प्रस्तर पर हाथी बना हुआ है, हाथी भी अलंकृत है। हाथी के पीछे एक महिला हाथ जोड़े बैठी है। मूर्ति के दायीं ओर अम्बिकादेवी की मूर्ति है। अम्बिका अपनी गोद में बच्चा लिये हुए है। अम्बिका के बायीं ओर एक स्त्री और पुरुष बने हुए हैं। यक्षिणी के ऊपर प्रस्तर पर अलंकृत-हाथी बना हुआ है। हाथी के पीछे एक पुरुष प्रणाम करने की मुद्रा में बैठा हुआ है।

शान्ति, कुन्ध और अरनाथ की मूर्ति

एक अन्य प्रस्तरखण्ड प्राप्त हुआ है। इसमें एक तीर्थकर मूर्ति 'पद्मासन' में स्थित है। पद्मासन-प्रतिमा के दोनों ओर कायोत्सर्ग-मुद्रा में दो तीर्थकर मूर्तियाँ हैं। ये तीनों मूर्तियाँ शान्ति, कुन्ध और अरनाथ की प्रतीत होती हैं। दायीं ओर की तीर्थकर मूर्ति के दायीं ओर यक्ष, यक्षिणी हैं। यक्ष, यक्षिणी के ऊपर मालाधारी विद्याधर हैं। तीर्थकर मूर्ति के ऊपर उड़ते हुए विद्याधर, विद्याधरी हैं। विद्याधरी की मूर्ति खण्डित है, विद्याधर पूरी तरह सुरक्षित है। बायें हाथ कुछ खण्डित है, हाथ में बाजूबन्ध पहिने हुये है। गले में हार है। कानों में कुण्डल पहिने हुए है। केशों का अपना वैशिष्ट्य है। दायें हाथ में विद्याधर कमल की कली तथा बायें हाथ में दण्ड धारण किये हुये है। यक्षिणी के कमर पर आभूषण है। ❖❖

क्षमापना-पर्व

आत्मारोधना के महान्-पर्व दशलक्षण के सुअवसर पर उत्तमक्षमा आदि दसविध धर्मों की पुनीत आराधना के परिणामस्वरूप अनुभूत निर्मलभावों से समस्त प्राणीजगत् के प्रति हुये अपने ज्ञात एवं अज्ञात अपराधों के लिये प्राकृतविद्या-परिवार विनम्र क्षमाप्रार्थी है।

प्राकृतविद्या के जिज्ञासु-पाठक-समुदाय का उदार सहयोग एवं प्रेरणा हमें अपने प्रगति-पथ के लिये पौष्टिक-पाथेय की भाँति अमूल्य सम्बल देती रही है। हम यथाशक्ति सावधानीपूर्वक सामग्री का प्रकाशन एवं पारस्परिक व्यवहार करने की नैष्ठिक चेष्टा करते हैं; फिर भी हमारे लेखन, प्रकाशन या व्यवहार से हमारे सुधी-पाठकों को जो भी असुविधा हुई हो, उसके लिये भी हम विनम्र क्षमाप्रार्थी हैं। —सम्पादक ❖❖

ज्योति-पर्व दीपावली के सुअवसर पर अभिनन्दन

शासननायक भगवान् महावीर स्वामी के पावन 2600वें जन्मोत्सव-वर्ष में सम्पूर्ण देश और विश्व में जैन एवं जैनेतर-समुदाय के लोग अत्यंत हर्ष और उल्लासपूर्वक भगवान् महावीर के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का श्रद्धासहित स्मरण कर रहे हैं। आगामी मास में भगवान् महावीर का 2528वाँ मांगलिक-निर्वाणदिवस आनेवाला है।

प्रकाशपर्व दीपावली के सुअवसर पर प्राकृतविद्या-परिवार की ओर से अपने सभी पाठकों एवं सहयोगियों के प्रति हार्दिक मंगलकामनायें समर्पित हैं। तथा हम भावना करते हैं, कि यह पुनीत-पर्व आप सभी के जीवन में अंतरबाह्य ज्ञानालोक को व्याप्त कर मोह और अज्ञान के तिमिर को अत्यंत दूर कर दे।

कुरीतियों एवं अज्ञानतापूर्ण संस्कारों से बचकर हम सभी निर्मल-तत्त्वश्रद्धान, यथार्थ तत्त्वज्ञान के साथ-साथ निर्दोष शास्त्रानुकूल आचरण करते हुये अपने जीवन को, भविष्य को एवं सम्पूर्ण समाज और राष्ट्र को ज्योतिमय कल की ओर ले जाने का संकल्प करें, और मोक्षपद के पथिक बनकर निर्वाण-प्राप्ति की ओर अग्रसर हों; ऐसी पुनीत-भावना है।

—सम्पादक



पुस्तक-समीक्षा

(1)

पुस्तक का नाम	: कातन्त्रोणादिसूत्रवृत्ति:
लेखक	: डॉ० धर्मदत्तचतुर्वेदी
प्रकाशक	: केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ वाराणसी
संस्करण	: प्रथम, 1992 ई०
मूल्य	: 135/- (शास्त्राकार, पेपरबैक, लगभग 400 पृष्ठ)

दिगम्बर-जैनाचार्य शर्ववर्म-विरचित 'कातन्त्र व्याकरण' भारतीय व्याकरणशास्त्र-परम्परा का वह प्रकाशस्तम्भ है, जिसने संस्कृतभाषा के नियमों का तो परिज्ञान कराया ही है, तत्कालीन लोकभाषाओं के नियमों का भी दिग्दर्शन जिसमें प्राप्त होता है।

इसी कातन्त्र-व्याकरण पर आचार्य दुर्गासिंह-विरचित 'कातन्त्र-उणादिसूत्रवृत्ति' नामक इस महनीय कृति का गरिमापूर्ण सम्पादन एवं टीकाकारण का दायित्व डॉ० धर्मदत्त चतुर्वेदी ने अत्यन्त श्रम एवं निष्ठापूर्वक निभाया है तथा 'केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान', सारनाथ (वाराणसी, ७०५०) ने इसका उच्चस्तरीय प्रकाशन कराके इसकी महत्ता एवं उपयोगिता को और बढ़ा दिया है। आधुनिक प्रकाशन के उच्चप्रतिमानों के अनुरूप इस प्रकाशन की विद्वज्जगत् में व्यापक उपादेयता रहेगी — ऐसा विश्वास है। विशद संस्कृत प्रस्तावना एवं भूमिका (हिन्दी) में विद्वान् संपादक ने अत्यन्त उपयोगी सूचनाओं का संकलन करते हुए महत्त्वपूर्ण विचार-बिन्दुओं को प्रस्तुत किया है। पादटिप्पणों में आगत सूत्र-उल्लेख विषय के स्पष्टीकरण में अत्यन्त उपयोगी हैं।

इस गरिमापूर्ण प्रकाशन के लिए विद्वान् संपादक एवं प्रकाशन-संस्था अभिनन्दनीय हैं।

—सम्पादक * * *

(2)

पुस्तक का नाम	: प्रमुख ऐतिहासिक जैन पुरुष और महिलायें
लेखक	: डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन
प्रकाशक	: भारतीय ज्ञानपीठ, लोधी रोड, नई दिल्ली
संस्करण	: प्रथम, 2000 ई०
मूल्य	: 85/- (पेपरबैक, लगभग 400 पृष्ठ)

भारतीय सभ्यता, संस्कृति, समाज, धर्म-दर्शन एवं ज्ञान-विज्ञान के विविध-क्षेत्रों में जैन-परम्परा के अनुयायी मनीषियों एवं श्रावक-मनीषियों का अनुपम, महनीय-योगदान रहा है। किन्तु उसका व्यवस्थित-विवरण कहीं भी उपलब्ध नहीं होने से इस क्षेत्र में एक बहुत बड़े शून्यत्व का अनुभव होता था।

स्वनामधन्य डॉ० ज्योतिप्रसाद जी जैन ने प्रस्तुत-कृति के माध्यम से इस रिक्तता की किसी सीमा तक पूर्ति की है तथा अवशिष्टजनों के प्रति उनके योगदान की स्मृति को सुरक्षित बनाने के लिए एक आदर्श प्रस्तुत तो किया ही है, सशक्त प्रेरणा भी दी है।

इसमें इतिहास की महत्ता के विषय में जो संक्षिप्त सारगर्भित वचन हैं, वे अपने आप में अनुपम हैं। चौबीसवें तीर्थंकर भगवान् वर्द्धमान महावीर से लेकर विविध राजवंशों, सामन्तों, श्रेष्ठियों, मनीषियों तथा समाज के विभिन्न-स्तरो के जैन-पुरुषों व महिलाओं के योगदान को चुन-चुनकर संजोने, उनका यथायोग्य रीति से शब्दांकन करने तथा देश के राजनीतिक मानचित्र के अनुसार इन सभी का 19वीं शताब्दी के अन्त तक का विवरण प्रस्तुत करनेवाली इस कृति का प्रकाशन तो पहिले भी हुआ था, किन्तु इसका यह प्रथम पेपरबैक संस्करण 'भारतीय ज्ञानपीठ' जैसी सुप्रतिष्ठित प्रकाशन-संस्था से प्रकाशित हुआ है, यह विशेषतः उल्लेखनीय है।

प्रत्येक जैन भाई-बहिन को अपने निजी संकलन में रखकर पढ़ने एवं मनन करने योग्य यह कृति विश्वस्तार पर प्रचारित एवं प्रसारित होनी चाहिए तथा विशेषतः सूचना-प्रौद्योगिकी के इस युग में आधुनिकतम सूचना-प्रसार माध्यमों (इंटरनेट आदि) पर भी इसका भरपूर प्रचार-प्रसार होना चाहिए। (न केवल पुस्तक की सूचना, अपितु पूर्ण-सामग्री का)।

इस महनीय प्रकाशन के लिए प्रकाशन-संस्थान तो अभिनन्दनीय है ही, ऐसे महान् मनीषी के इस योगदान को प्रत्येक जैन बंधु एवं विद्वानों को अपने हृदयपटल पर अंकित कर उनके प्रति कृतज्ञ होने का भाव रखना चाहिए।

—सम्पादक **

(3)

पुस्तक का नाम	: प्राकृत एवं जैनागम साहित्य
लेखक	: डॉ० हरिशंकर पाण्डेय
प्रकाशक	: श्री लक्ष्मी पब्लिकेशन, कतिरा, आरा
संस्करण	: प्रथम, 2000 ई०
मूल्य	: 500/- (पक्की जिल्द, लगभग 295 पृष्ठ)

लोकभाषा प्राकृत में यद्यपि बहुआयामी साहित्य उपलब्ध होता है, फिर भी उसमें निहित जैनागम-साहित्य अपनी पूज्यता, भाषागौरव एवं विषयगांभीर्य की दृष्टि से अपना विशेष महत्त्व रखना है। यद्यपि जैनागम-साहित्य 'शौरसेनी' एवं 'अर्धमागधी' — इन दो वर्गों में विभाजित है, अपनी 'प्ररोचना' में विद्वान् लेखक ने इस तथ्य को स्वीकार भी किया है। किन्तु ग्रंथ की विषयवस्तु में मात्र अर्धमागधी आगम-साहित्य के कतिपय बिन्दुओं का ही प्राकृत के

परिप्रेक्ष्य में विवेचन मिलता है। यद्यपि प्रारंभ में ही दिगम्बर जैनाचार्य शिवार्य-प्रणीत 'भगवती-आराधना' के केन्द्रित कर दो आलेख जैसे परिच्छेद हैं, किन्तु उसमें ग्रंथ एवं ग्रंथकार की परम्परा के विषय में मौनसाधन ही विद्वान् लेखक ने इष्ट समझा है। वैसे समग्र विषयवस्तु को देखने पर विविधविषयों पर लिखे गये लेखों का संकलन ही यह पुस्तक लगती है, अपने शीर्षक के अनुरूप कोई सुव्यवस्थित रूपरेखा एवं तदनुसारी प्रस्तुतीकरण इसमें परिलक्षित नहीं होता है। किन्तु ऐसा होते हुए भी वर्ण्य-विषय की उपयोगिता एवं लेखकीय श्रम को कमतर नहीं आंका जा सकता है।

संपादन एवं प्रूफ-संबंधी अशुद्धियों के लिए तो विद्वान् लेखक ने अपनी 'प्ररोचना' में स्वयं ही स्वीकृति प्रदान की है, अतः एतद्विषयक उल्लेख उचित नहीं लगता।

निष्कर्षतः जिज्ञासु पाठकों को कतिपय विषयों (जैसे—'भगवती आराधना में निपात') के महत्त्वपूर्ण प्ररूपण करनेवाली इस पुस्तक का निर्माण करने के लिए विद्वान् लेखक एवं उनकी प्रकाशन-संस्था को साधुवाद देता हूँ। हाँ! मूल्य के निर्धारण में उद्योगपतियों को भी पीछे छोड़ दिया गया है — यह चिन्तनीय अवश्य है।

—सम्पादक **

(4)

पुस्तक का नाम	: मंगल तीर्थयात्रा
लेखिका	: डॉ० (प्रो०) श्रीमती विद्यावती जैन
प्रकाशक	: श्री अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद् ट्रस्ट
संस्करण	: प्रथम, 2001 ई०
मूल्य	: 5/- रुपये (पिपरबैक, लगभग 32 पृष्ठ)

लेखनकला की विधाओं में यात्रा-वृत्तान्त-परक लेखों का ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, सामाजिक एवं धार्मिक दृष्टियों से कभी-कभी बड़ा महत्त्व होता है। परमपूज्य आचार्यश्री विद्यानन्द जी मुनिराज की 77वीं पावन जन्म-जयन्ती के शुभ-प्रसंग पर 'अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद् ट्रस्ट' द्वारा प्रकाशित यह कृति इन सभी दृष्टियों से महनीय है। यद्यपि इसका कलेवर लघुकाय है, फिर भी देशभर के चुनिंदा जैन मनीषियों की दक्षिण भारत के तीर्थक्षेत्रों की मंगलयात्रा का यह वृत्तान्त विदुषी लेखिका के प्रभावी प्रस्तुतीकरण से गरिमापूर्ण बन पड़ा है।

इस सुन्दर प्रकाशन के लिए विदुषी लेखिका एवं प्रकाशक-संस्थान अभिनन्दनीय हैं।

—सम्पादक **

(5)

पुस्तक का नाम	: चीनी यात्री फाहियान का यात्रा-विवरण
अनुवाद	: जगन्मोहन वर्मा
प्रकाशक	: नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया

संस्करण : प्रथम, 1918 ई०, पहली आवृत्ति : 1996

मूल्य : 30/- रुपये (पिपरबैक, लगभग 120 पृष्ठ)

जब-जब यात्रावृत्तान्तों की चर्चा चलती है, तो कई शताब्दियों पूर्व के परिवहन एवं संचार के उन्नत एवं पर्याप्त साधनों से विहीन युग में चीनी-यात्रियों द्वारा किया गया भारत-भ्रमण एवं उसका यात्रा-वृत्तांत-लेखन अपने आप में न केवल विश्वविश्रुत रहा, अपितु आदर्श-प्रतिमानों के रूप में भी अग्रगण्य माना जाता है।

प्रस्तुत कृति में चीनी यात्री फाहियान का यात्रा-विवरण हिन्दी-भाषा में अनूदित करके प्रभावी रीति से प्रस्तुत किया गया है। विशेषतः इसके 'सोलहवें पर्व' में मथुरा का जैननगरी के रूप में जैसा अद्वितीय-चित्रण हुआ है, उससे तत्कालीन मथुरा का स्वरूप, गौरव तथा जैनत्व का प्रभाव मार्मिकरूप में हृदयपटल पर अंकित हो जाता है। इसमें वणित कई स्थान, नगर आदि तो आज भौगोलिक-दृष्टि से अनुसंधान बन गये हैं; जिनका प्रामाणिक-विवरण यदि प्रस्तुत किया जाये, तो यह भारतीय भौगोलिक-इतिहास की दृष्टि से अनुपम कार्य होगा। इसीप्रकार भारत की अहिंसक-संस्कृति एवं समाजव्यवस्था के अध्ययन के लिए भी यह कृति अनुपम आदर्श है। सभी मनीषियों, जिज्ञासुओं तथा भारतीय सभ्यता-संस्कृति के प्रेमियों को यह अवश्य पठनीय, मननीय एवं संग्रहणीय है।

—सम्पादक ***

(6)

पुस्तक का नाम : महावीर-पदावली
अनुवाद : डॉ० वीरसागर जैन
प्रकाशक : श्री कुन्दकुन्द भारती न्यास
संस्करण : प्रथम, 2001 ई०
मूल्य : 10/- रुपये (पिपरबैक, लगभग 36 पृष्ठ)

भगवान् महावीर के 2600वें जन्म-कल्याणक-वर्ष के सुअवसर पर प्रकाशित इस सुन्दर लघुकाय-कृति में भगवान् महावीर से सम्बन्धित 26 भजनों का सानुवाद संकलन किया गया है। इस कृति के प्रारम्भ में परमपूज्य आचार्यश्री विद्यानन्द जी मुनिराज का पावन 'मंगल आशीर्वचन' इसकी गरिमा को वृद्धिगत करता है। कविवर पं० दयानतराय, भूधरदास, सिंहकीर्ति, जगराम, बुधजन, नयनानन्द, दौलतराम, बुधमहाचन्द्र एवं हजारी जी द्वारा विरचित ये भजन संगीत, गेयता, भक्ति एवं तत्त्वज्ञान की दृष्टि से विशिष्ट हैं। परिशिष्ट में इन कवियों का सांकेतिक परिचय भी दिया गया है।

इस प्रासंगिक प्रकाशक के लिए संपादक एवं प्रकाशन संस्था —दोनों बधाई के पात्र हैं।

—सम्पादक ***

मत ठुकराओ, गले लगाओ, धर्म सिखाओ — (आचार्यश्री विद्यानन्द मुनि)

अभिमत

● प्राकृतविद्या, जनवरी-जून 2001 हाथ में है। 'महावीर-चन्दना विशेषांक' बहुआयामी रोचक एवं गवेषणापूर्ण जानकारी के कारण पठनीय-मननीय हो गया है। सभी आलेखों में नवीनता के दर्शन होते हैं। डॉ० ए०एन० उपाध्ये का आलेख 'भगवान् महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थमिदं तवैव' भगवान् महावीर की सर्वोदयी-देशना के सशक्त-प्रतीक हैं। आज के श्रमणाचार एवं श्रावकाचार में आये शिथलाचार एवं संकीर्ण एकांगी-सोच के शमन-दमन हेतु इन आलेखों में पर्याप्त दिशाबोध उपलब्ध है। डॉ० उदयचन्द्र जैन का प्रयास 'वइसालीए कुमार-वडढमाणो' स्तुत्य है और आचार्यश्री का प्राकृतभाषा के उत्थान की कल्पना साकार करता है। डॉ० सुदीप जैन का सम्पादकीय, वैशाली और राजगृह, तथा अनेकान्त एवं स्याद्वाद आलेख शोध-खोजपरक साधना से प्रसूत है। इतिहासकारों एवं शोधकर्ताओं को सहज ही बहुमूल्य सामग्री एक स्थान पर प्रस्तुत करने हेतु डॉ० सुदीप बर्धई के पात्र हैं। श्री प्रभात कुमार दास के 'लोकतांत्रिक दृष्टि और महावीर' आलेख में भगवान् महावीर के दर्शन की विद्यमान परिप्रेक्ष्य में उपादेयता एवं सर्वकल्याणता सहज ही सिद्ध की है। स्वच्छ लोकतांत्रिक व्यवस्था का सुफल कर्तव्यबोध में ही निहित है, जो अहिंसा के सिद्धान्त का सूत्र है। अन्य आलेख भी सुरुचिपूर्ण भावों से युक्त हैं। अंत में श्री सुरेश जैन (I.A.S.) की सम्मति में व्यक्त उनके भावों को नमन करता हूँ, जिसमें उन्होंने श्रमण एवं श्रमणी, श्रावक एवं श्राविकाओं से अपेक्षा की है, कि वे अपने व्यवहार में अहिंसा, विचार में अनेकांत और वाणी में स्याद्वाद के ठोस उदाहरण प्रस्तुत कर पंथवाद से की संकीर्णता से ऊपर उठकर जैनदर्शन को विश्व के समक्ष वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत करें।'

आपके कुशल-सम्पादन की श्रमसाध्य-साधना फलीभूत हो, यही भावना है।

—डॉ० राजेन्द्र कुमार बंसल, अमलाई * * *

● प्राकृतविद्या का जनवरी-जून 2001 का 'संयुक्तांक' हस्तगत हुआ। यह अंक तीर्थकर महावीर के सम्बन्ध में जहाँ पूर्व की जानकारियों में श्रीवृद्धि करती है, वहीं चन्दनबाला जैसे अनुकरणीय व्यक्तित्व पर यथेष्ट प्रकाश डालती है। कम से कम मेरे जैसे व्यक्तियों को इससे पर्याप्त लाभ हुआ है। संस्था के साथ-साथ रचनाकार भी साधुवाद के पात्र हैं। यह अंक संग्रहणीय है और गंभीर अध्ययन-मनन-मंथन के योग्य है। अभी कुछ

ही निबन्धों का अध्ययन कर पाया हूँ; इन निबन्धों में संश्लेषणात्मक और विश्लेषणात्मक दोनों ही पद्धतियों में तथ्यों का निरूपण हुआ है, जिससे गूढ़-विषय भी सरलता से हृदयंगम हो जाता है। —डॉ० जयप्रकाश तिवारी, इन्दिरानगर, लखनऊ (उ०प्र०) ***

● प्राकृतविद्या का जनवरी-जून 2001 का संयुक्तांक प्राप्त हुआ। इतनी उत्तम-सामग्री प्रकाशित करके आपने पत्रिका के स्तर में उतरोत्तर-वृद्धि ही की है। यह आपकी लगन का साक्षी है। पृष्ठ 124 पर आपने 'मध्य प्रदेश का जैन शिल्प' शीर्षक ग्रंथ की समीक्षा की। 'राजस्थान के जैन शिल्प' पर भी एक सुन्दर-ग्रंथ प्रकाशित करना चाहिये। कुछ योजना बना सकें, तो मैं भी सहयोग दे सकूँगा। 1953 से आज तक इसी क्षेत्र में कार्यरत हूँ। इसप्रकार के ग्रंथों हेतु श्रेष्ठ-चित्रों का प्रकाशन ही अपेक्षित है।

—रत्नचन्द्र अग्रवाल (पूर्व महानिदेशक, पुरातत्त्व विभाग), जयपुर ***

● 'प्राकृतविद्या' के अक्टूबर-दिसम्बर 2000 ई० व जनवरी-जून 2001 के दोनों अंक यथासमय प्राप्त हुये, प्राप्ति की सूचना देने में विलम्ब हुआ, किंतु पत्रिका के दोनों ही अंक पाते ही आद्योपान्त पढ़कर छोड़ सकी। आपकी शोध-पत्रिका निश्चित ही उत्कृष्ट-कोटि की है। पत्रिका के दोनों अंकों में लब्धप्रतिष्ठ विद्वानों के शोधपूर्ण लेख हैं, यदि नाम लेना चाहूँ, तो प्रत्येक का ही नाम लेना होगा।

डॉ० उदयचन्द्र जैन की आधुनिक प्राकृत अत्यंत ललित व सरल है। संस्कृत में लेखन में अनवरत चालू है, परन्तु प्राकृत में संभवतः दो-तीन शतकों बाद डॉ० उदयचन्द्र जी पुनः प्राकृत में लिख रहे हैं, जो हर्षद भी है, प्रेरक भी।

भगवान् महावीर की 2600सौवी जन्म-जयन्ती और महिला-सक्षमता-वर्ष में भगवान् महावीर के साथ सक्षमतम महिला गणिनी चंदना पर संयुक्त-विशेषांक निकालना आपकी समुचित दूरदृष्टि का परिचायक है।

आचार्य श्री विद्यानन्द जी के आशीर्वाद और आपके भगीरथ प्रयास (संपादकीय के अतिरिक्त अनेक लेख लिखने का विशेष-दायित्व देखते हुए) से यह पत्रिका निरन्तर प्रगति के सोपानों पर चढ़ती रहेगी, यह आशा और कामना है।

दोनों अंकों के लिये बहुत-बहुत धन्यवाद —डॉ० कुसुम पटोरिया, नागपुर ***

● प्राकृतविद्या का 'महावीर-चन्दना' विशेषांक मिला, अंक उत्कृष्ट है। 'प्रगति आणि जिनविजय' में इस अंक की समीक्षा करूँगा। पूज्य आचार्य श्री विद्यानन्द जी का 'सर्वोदय तीर्थमिदं तवैव' लेख अतीव प्रसन्नता देनेवाला है।—सुभाषचंद्र अक्कोले, कोल्हापुर ***

● प्राकृतविद्या का 'महावीर-चन्दना' संयुक्तांक बहुत ही रोचक लेखों से सजा हुआ है। विशेषतः 'वड्सालीए कुमार वड्डमाणो' और 'भगवान् महावीर और उनका जीवनदर्शन' यह डॉ० ए०एन० उपाध्ये का लेख तथा 'सर्वोदय तीर्थमिदं तवैव' यह आचार्य विद्यानन्द मुनि जी का लेख बहुत ही रोचक हो गये हैं।—बाहुबली पार्श्वनाथ उपाध्ये, अनगोल ***

● महावीर के सर्वोदय तीर्थ पर आपका एक लेख 'प्राकृतविद्या' जून 2001 ई० के विशेषांक में पढ़ने को मिला। इसमें आपने 'गागर में सागर' भरने का प्रयास किया है। श्रमण-संस्कृति जैनधर्म, समता व अहिंसाभाव, दिगम्बरत्व, सामाजिकता और पावन-धर्म अणुव्रत आदि का वर्णन प्रभावोत्पादक एवं ज्ञानवर्धक है। भाषा की शुद्धता एवं परिमार्जितता देखने योग्य है। इस विचारोत्तेजक अंक को पढ़कर प्रसन्नता हुई।

—डॉ० निजामुद्दीन, श्रीनगर (जम्मू कश्मीर) * *

● भगवान् महावीर के 2600वें जन्मदिवस के उपलक्ष में प्रकाशित 'महावीर चन्दना विशेषांक' की प्रति मुझे प्राप्त हुई। पुस्तक बहुत ही सुन्दर ढंग से प्रकाशित हुई है और इसका आवरण पृष्ठ भी बहुत आकर्षक है। भगवान् महावीर के जीवन से सम्बन्धित लेख बहुत ही प्रेरणादायक है। इस सुन्दर प्रकाशन के लिए कृपया मेरी हार्दिक बधाई स्वीकार करें। आपने इस पत्रिका को मुझे भेजा, उसके लिये मैं आपका हृदय से आभार प्रकट करता हूँ।

—प्रतापसिंह मुरडिया, उदयपुर (राजस्थान) * *

● प्राकृतविद्या, जनवरी-जून 2001 का संयुक्तांक 'महावीर-चन्दना' विशेषांक के रूप में प्राप्त हुआ। पूज्य आचार्य विद्यानन्द मुनि, विगत बीसवीं सदी के ऐसे प्रज्ञावान् महान् जैन-संत हैं, जिन्होंने जैनदर्शन/जैनधर्म को, विश्व-मंच पर उसकी पूर्ण वैज्ञानिकता और आध्यात्मिकता के साथ प्रतिष्ठित किया। 'राष्ट्रसंत' की यशस्वी गौरव-गरिमा के साथ जिन्होंने राजनीति के सागर में जैनधर्म का जहाज खड़ा कर, उसे पवित्रता प्रदान की।

'प्राकृतविद्या' कुन्दकुन्द भारती ऐसे आचार्य सन्त के आशीर्वाद का मूर्तिमान् प्रतीक/प्रतिमान है। एक युग था, जब केवल मुनि विद्यानन्द भारतवर्ष में विश्रुत थे। आपकी प्रवचन-कला का एक जादू था। प्रवचन-प्रभावना का जो सम्मोहन, आपने जैनजगत् में प्रतिष्ठित किया है वह शोध और अन्वेषण की दिशा में मील का पत्थर साबित हुआ। 'प्राकृतविद्या' में पूज्य आचार्यश्री पूरे प्राणों के मुखर हैं। प्रत्येक अंक में ज्ञान-प्रकाश का जो आभा-मण्डल आपके आलेख में प्रतिबिम्बित होता है, वह वस्तुतः आपके जीवन की तप-तेजस्विता और आभीक्षण-ज्ञान के क्षयोपशम की प्रकर्षता है।

मौलिक चिन्तन और शोधपूर्ण आख्यान डॉ० सुदीप जैन के लेखन की विशिष्टता रही है। जैन-जगत् में दिगम्बर जैन परम्परा के लिए 'प्राकृतविद्या' का प्रकाशन एक आलोक-स्तम्भ है। 'तुलसीप्रज्ञा' का जो स्थान जैन-जगत् में है, वैसा ही 'प्राकृतविद्या' का है।

प्रस्तुत अंक 'भगवान् महावीर' के अनछुये प्रसंगों का एक दस्तावेज है। डॉ० नीलम का 'युगप्रवर्तिका चन्दनबाला' वाला आलेख मर्मस्पर्शी है। सुधी-विद्वानों के 'मौक्तिक-विचार' और डॉ० सुदीप जैन की सम्पादकीय-नैष्ठिकता अत्यन्त श्लाघनीय है। डॉ० ए०एन० उपाध्ये का भगवान् महावीर से संबंधित लेख प्रासंगिक और सामयिक ही नहीं है, वरन् मौलिकता के गवाक्षों से ज्ञांकता ज्ञान का खुला आकाश दिखा रहा है।

शौरसेनी प्राकृतभाषा के विकास के लिए कृत-संकल्पित यह त्रैमासिकी-शोध पत्रिका, आचार्य विद्यानन्द जी के भाव-संसार का पुण्य-प्रसून कहें, या उनकी भावनाओं का मूर्त/साकार रूप। ऐसी पत्रिका में आलेख प्रकाशित देखकर अपने को गौरवान्वित भी महसूस करता है। निर्दोष प्रिंटिंग और नयनाभिराम गेटअप ने इसकी बाह्य सुन्दरता को भी प्रवर्तित रखा है। क्योंकि बाह्य कलेवर अन्तर के स्वरूप का एक सच्चा हमजोली होता है।

—निहाल चंद जैन, बीना, सागर (म०प्र०) *★

● जैनधर्म आचार-मूलक है, जिसमें ब्रह्मचर्य पालन का अतिमहत्त्व है, इसलिये नव-बाड़ (मर्यादायें) रखने का उपदेश भी है। विजातीय-तत्त्वों अलग होकर साथ में भी नहीं रखना विकार-उत्पत्ति का निमित्त न बनने के लिए आवश्यक माना गया है। मुनि/साधु और साध्वियाँ भी अलग आवास करते हैं। ऐसी स्थिति में महावीर और चन्दना का संयुक्त-विशेषांक निकालना जिज्ञासोत्पादक है।

—हंसमुख भाई शांतिलाल शाह, मणिनगर अहमदाबाद *★

● महावीर-चन्दना विशेषांक वास्तव में वन्दन-योग्य है। जहाँ अंक का समसामयिकता-संबंधी सम्पादकीय-लेख भारतीय जीवन एवं संस्कृति पर महावीर जी की स्पष्ट-छाप छोड़ती है, वहीं 'सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव' आलेख वर्तमान-परिस्थितियों में प्राणिमात्र के हित-हेतु जो विस्तृत विवरण व उपदेशात्मक तथ्य सामने रखते हैं, वे अत्यन्त ही उपयोगी होकर जीवन को वास्तविकरूप में सक्रियता प्रदान करने हेतु सक्षम हैं।

भगवान् महावीर और उनका जीवन-दर्शन-संबंधी अंग्रेजी-भाषण का हिन्दी-अनुवाद देकर उनके जीवन के अनेक पहलुओं को जिसतरह से उजागर किया है, वह बहुत-कुछ सोचने और समझने को बाध्य करता है। अमल में लाने-हेतु पहल की जाना चाहिये, तभी सार्थकता है। इसीप्रकार महावीर-संबंधी अन्य-आलेख भी बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। मन की गहराई तक पहुँचने और प्राणिमात्र के कल्याण के साधन-हेतु वास्तव में एक नयी सोच जगाते हैं। महावीर जी की वन्दना आदि हेतु यत्र-तत्र बिखरी सामग्री (समग्ररूप में) भी उपयोगी है।

अंक में दी गई पुस्तक समीक्षाएँ भी संक्षिप्त होने पर भी सारगर्भित हैं। समाचारदर्शन भी कई तथ्यों को बड़ी कुशलता से सामने रखता है। इसप्रकार सभी दृष्टियों से संयुक्तांक संग्रहणीय बन पड़ा है।

—मदन मोहन वर्मा, तानसेन मार्ग, ग्वालियर *★

● संयुक्तांक 'जनवरी-जून 2001' 'महावीर चन्दना विशेषांक' देखा, वैसे तो 'प्राकृतविद्या' पत्रिका का प्रत्येक अंक संग्रहणीय होता है। संयुक्तांक 'महावीर-चन्दना विशेषांक' भी ऐसे ही पठनीय, मननीय, संग्रहणीय अंकों एवं विशेषांकों की शृंखला में एक नवीनतम सुन्दर कड़ी है।

आपका सम्पादकीय 'भगवान् महावीर की समसामयिकता' अत्यन्त प्रासंगिक है। आपके इस कथन से पूर्णतया सहमत हूँ कि आज महावीर के अनुयायियों को मात्र (औपचारिक)

आयोजनों से ही संतुष्ट हो जाने की उपादेयता नहीं है; अपितु भगवान् महावीर द्वारा आचरित एवं उपदिष्ट उस सिद्धान्त-चतुष्टय को अविलम्ब अपनाये जाने की नितान्त आवश्यकता है, जो 'आचरण' में 'अहिंसा' रूप हो तथा 'विचार', 'वाणी' और 'जीवन' में क्रमशः 'अनेकान्त', 'स्याद्वाद' व 'अपरिग्रह' रूप हो।

आचार्यश्री विद्यानन्द जी मुनिराज का आलेख 'सर्वोदय तीर्थमिदं तवैव' अत्यन्त सरल, सुबोध होने के साथ-साथ, विशेषरूप से मननीय भी है' एवं निश्चित ही, विशेषांक के यश एवं शोभा में चार चांद लगा रहा है।

अन्य लेखों में प्रमुख हैं— डॉ० राजेन्द्र कुमार बंसल द्वारा कलमबद्ध 'तिलोपपण्णती में भगवान् महावीर और उनका सर्वोदयी दर्शन', श्री प्रभात कुमार दास द्वारा लिखित 'लोकतांत्रिक दृष्टि और भगवान् महावीर' तथा श्रीमती रंजना जैन का 'भगवान् महावीर के अनेकान्त का सामाजिक पक्ष'।

आपके तीनों आलेख 'वैशाली और राजगृह', 'महावीर-देशना के अनुपम रत्न : अनेकान्त एवं स्याद्वाद' तथा 'भगवान् महावीर और अहिंसा-दर्शन' में से प्रथम आलेख उचित, न्यायसंगत एवं अनुकरणीय लोकतांत्रिक व गणतंत्रीय राजव्यवस्था का शुभ-आह्वान है तथा द्वितीय एवं तृतीय आलेख अपने-अपने विषयानुरूप महावीर द्वारा उपदिष्ट-सिद्धान्तों एवं आचारों को उचितरूप से उजागर करने में सक्षम हुये हैं।

पृ०क्रं० 123 पर 'आत्मधर्म-प्रकाशक महावीर' एवं 'लोकधर्म-प्रचार बुद्ध'-सम्बन्धी तुलनात्मक तथ्यतालिका एक दृष्टि में अवलोकनीय होते हुए भी विशिष्ट वैचारिक-गवेषणा का आधार है।

रामधारी सिंह 'दिनकर' की 'वैशाली महानगर' कविता (द्रष्टव्य पृ०क्रं० 102) तथा 'महासती चन्दना'-सम्बन्धी समस्त आलेखादि भी सुन्दर हैं; किन्तु सबसे सुन्दर है—'चीनी यात्री फाह्यान के यात्रा-विवरण' का वह अंश, जो 'प्राचीन भारत में अहिंसक-संस्कार' शीर्षक से 'मंगलाचरण' से ठीक पहिले पृ० क्रं० 4 पर उद्धृत किया गया है।

कुल मिलाकर पत्रिका के कुशल, सक्षम एवं प्रभावी अविरल सम्पादन-हेतु आप बधाई के पात्र हैं एवं निश्चितरूप से आपने स्व० पं० बलभद्र जी की विचारधारा को अविराम आगे बढ़ाया है। हमारी शुभकामनायें हैं कि आपके शुभ-सम्पादकत्व एवं लगनशीलता से पत्रिका जैन-सिद्धान्तों एवं आचार-विचारों का मंगल उद्योत् जन-जन के मध्य, निरन्तर फैलाती रहे एवं अतिशय-यशस्वी बने। —निर्मल कुमार जैन 'निर्लिप्त', अलीगढ़ (उ०प्र०) **

● 'प्राकृतविद्या' का 'जनवरी-जून (संयुक्तांक) 2001' का अंक देखने का अवसर मिला। आद्योपान्त पढ़कर ही छोड़ने का मन हुआ। पत्रिका में प्रकाशित सभी शोधपरक लेख प्रेरणास्पद, अनुकरणीय, मननीय, स्पृहणीय, संग्रहणीय व चिंतनीय है। पत्रिका के स्तुत्य प्रकाशन के लिए निश्चितरूप से सम्पादक व कुन्दकुन्द भारती प्रशंसा-योग्य है। सम्पादकीय

‘भगवान् महावीर की समसामयिकता’ पसन्द आया। ‘नारी सम्मान की प्रतीक चन्दना’, ‘स्मृति के झरोखे से’, ‘तिलोयपण्णत्ति में भगवान् महावीर.....’ भी रचिकर लगे। सारी की सारी सामग्री पठनीय है। ऐसी पत्रिकायें निश्चित ही शोधार्थियों के लिए ‘गागर में सागर’ का काम करेगी। प्रत्येक अंक का संग्रह होना आवश्यक है। पत्रिका की साफ सुन्दर स्पष्ट छपाई भी पत्रिका को आकर्षक बनाने में अहम् भूमिका अदा कर रही है। पत्रिका के उत्तरोत्तर विकास हेतु हार्दिक शुभकामनाओं सहित।

—सुनील जैन ‘संचय’ शास्त्री, वाराणसी (उ०प्र०) **

● ‘प्राकृतविद्या’ का ‘जनवरी-जून (संयुक्तांक) 2001’ पढ़कर हृदय में अति-प्रमोद हुआ। इसमें निहित सामग्री शोध-पत्रकारिता के उच्चतम मानदण्डों के अनुरूप है, तथा भगवान् महावीर के साथ-साथ सती चन्दनबाला के जीवन एवं दर्शन पर भी उपयोगी सामग्री प्रस्तुत करता है। ‘अनेकांत और स्याद्वाद’ तथा ‘वैशाली और राजगृह’ संबंधी लेख अनेकों ज्ञानवर्धक सूचनाओं से समन्वित हैं। तथा पूज्य आचार्यश्री का आलेख तो पूरे अंक में मंदिर पर कलश की भाँति अतिमहत्त्वपूर्ण और पूरे अंक की शोभा है। पुस्तक समीक्षा आदि स्तंभों से भी उपयोगी जानकारियाँ प्राप्त होती हैं। कुशल संपादन के लिये बधाई।

—पं० प्रकाशचंद जैन, मैनपुरी (उ०प्र०) **

राज्यश्री और तपःश्री

प्रेयसीयं तवैवास्तु राज्यश्रीर्या त्वयादृता ।
चोचितैषा मामयुष्मन् बन्धो न हि सतां मुदे । ।
विषकण्टकजालीव त्याज्यैषा सर्वथापि नः ।
निष्कण्टका तपोलक्ष्मीं स्वाधीनां कर्तुमिच्छताम् । ।

—(आ० जिनसेन, महापुराण, 36/97-99)

अर्थ :— (बाहुबलि पाँचों प्रकार के युद्ध के बाद भरत से कहते हैं) हे आयुष्मान् भरत ! यह राज्यलक्ष्मी मेरे योग्य नहीं है; क्योंकि तुमने इसका अत्यन्त समादर किया है, अतः यह तुम्हारी प्रिय-पत्नी के तुल्य है। बन्धन की सामग्री सत्पुरुषों को आनंदप्रद नहीं होती है। मुझे तो अब यह विषैले काँटों के समूह से समन्वित प्रतीत हो रही है, अतः यह मुझे पूर्णतः त्याज्य है। मैं तो निष्कण्टक तपःश्री को अपने आधीन करने की आकांक्षा रखता हूँ। (अर्थात् अब मैं राज्यश्री को छोड़कर तपःश्री को अंगीकार करने जा रहा हूँ।)

**

सखेद सूचना

महावीर-चंदना विशेषांक के प्रारंभ में दिये गये सूक्तिवचनों की आधार-सामग्री ‘शोधादर्श’ के महावीर-अंक पर आधारित थी। पूफ की गलती से यह उद्धरण उस अंक में नहीं जा पाया, इसका हमें खेद है।

—सम्पादक

समाचार दर्शन

सुशिक्षित एवं धर्मपरायण महिलाओं से ही देश का उत्थान होगा

आचार्यश्री विद्यानंद जी मुनिराज ने 'परेड ग्राऊण्ड' मैदान के भव्य एवं विशाल 'कुंदकुंद सभामंडप' में दशलक्षण-पर्व के पश्चात् दो सितम्बर को 'सती चन्दना वर्ष' के समापन पर आयोजित 'आदर्श श्राविका सम्मान समारोह' में बोलते हुए कहा कि "भगवान् महावीर ने दासी बनी चन्दना को बंधन-मुक्त कराकर समाज में नारी-जाति को उच्च-स्थान दिलाया था। शास्त्रों में इस बात की विस्तार से चर्चा की गई है। नारी का सुशिक्षित एवं धर्मपरायण होना बहुत आवश्यक है, ऐसी नारी परिवार को तो सुचारुरूप से चलाती ही है, वह समाज व देश के उत्थान में भी महत्त्वपूर्ण योगदान देती है।" आचार्यश्री ने चाणक्य-नीति की सराहना करते हुए कहा कि त्याग की भावना से ही देश को समृद्धिशाली बनाया जा सकता है।

समारोह की मुख्य-अतिथि सुविख्यात समाजसेविका एवं गांधीवादी-विचारिका सुश्री निर्मला देशपांडे ने सर्व श्रीमती कपूरी देवी जैन धर्मपत्नी स्व. डॉ. सुखनन्दन लाल जैन, श्रीमती सुशीला जैन धर्मपत्नी श्री रमेश चन्द्र जैन (पी.एस.जे.), श्रीमती रमल जैन धर्मपत्नी श्री आर.पी.जैन, श्रीमती प्रवीन जैन धर्मपत्नी श्री सतीश जैन (एस.सी.जे.), श्रीमती सुशीला जैन धर्मपत्नी श्री सतीश जैन (आकाशवाणी), श्रीमती रेशम जैन धर्मपत्नी श्री धनपाल जैन कपड़ेवाले, श्रीमती हेमबाला जैन धर्मपत्नी श्री किशोर जैन, श्रीमती कान्ता जैन धर्मपत्नी स्व. श्री हीरालाल जैन कौशल, श्रीमती उर्मिला जैन (अध्यक्षा, दिगम्बर जैनसमाज, ऋषभ विहार), श्रीमती सावित्री जैन धर्मपत्नी श्री ओमप्रकाश जैन (संस्कृति) आदि लगभग पचास आदर्श महिलाओं को शॉल, प्रशस्ति पत्र एवं मैडल प्रदान कर सम्मानित किया। इन महिलाओं ने अपने व्यक्तिगत-जीवन में आदर्श-चारित्रिक गुणों को विकसित कर पारिवारिक, सामाजिक एवं धार्मिक-क्षेत्रों में नैतिक एवं मानवीय-मूल्यों की स्थापना करने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

सुश्री निर्मला देशपांडे ने कहा कि स्त्री-शक्ति के सम्मान से जागृति पैदा होती है, समाज कल्याण के मार्ग पर चलता है और इसी से देश का भविष्य उज्ज्वल होगा।

आचार्यश्री ने इस समारोह में नई प्रकाशित पुस्तक 'वैशालिक की छाया में' का विमोचन करते हुए कहा कि "भगवान् महावीर का एक नाम 'वैशालिक' भी था।" समारोह प्राचीन

अग्रवाल दिगम्बर जैन पंचायत द्वारा आयोजित किया गया। संस्था के प्रधान श्री चक्रेश जैन ने पुनीत जैन (नवभारत टाइम्स) को सम्मानित किया।

—स्वराज जैन, द टाइम्स ऑफ इण्डिया, नई दिल्ली * *

जैनविद्या एवं प्राकृत (पालि, संस्कृत, अपभ्रंश सहित) विषय पर पुनश्चर्या पाठ्यक्रम का शुभारम्भ

सुखाड़िया विश्वविद्यालय उदयपुर के जैनविद्या एवं प्राकृत विभाग के तत्त्वावधान में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, नई दिल्ली के सौजन्य से 22 अक्टूबर से 11 नवम्बर 2001 तक जैनविद्या एवं प्राकृत (पालि, संस्कृत, अपभ्रंश सहित) विषय पर पुनश्चर्या- पाठ्यक्रम (रिफ्रेशन कोर्स) आयोजित है। इसमें देश के सभी भागों से जैनविद्या, प्राकृत, पालि, संस्कृत एवं अपभ्रंश के प्राध्यापकगण भाग ले सकते हैं। —प्रो० प्रेमसुमन जैन, निदेशक * *

भगवान् ऋषभदेव आद्य-संस्कृति के निर्माता हैं

'ऋषभदेव प्रतिष्ठान' की ओर से एम०डी० जैन कॉलेज, आगरा के सभागार में 'तीर्थंकर ऋषभदेव महोत्सव एवं संगोष्ठी' का आयोजन 18-19 मार्च को हुआ। जिसकी अध्यक्षता आगरा-मण्डल के आयुक्त श्री एस०एन० झा ने की। मुख्य-वक्ता के रूप में दरभंगा विश्वविद्यालय के पूर्व कुलपति आचार्य प्रभाकर मिश्र उपस्थित थे। ऋषभदेव प्रतिष्ठान के अध्यक्ष श्री स्वरूप चन्द जी जैन ने सभी अतिथियों का अभिनन्दन किया। प्रतिष्ठान के महासचिव श्री हृदयरज जैन ने प्रतिष्ठान की ओर से पूर्व में आयोजित संगोष्ठियों की जानकारी दी एवं प्रतिष्ठान की स्थापना का उद्देश्य एवं भावी योजनाओं से अवगत कराया।

प्रो० मुनीश चन्द्र जोशी, महानिदेशक भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण, संस्कृत मनीषी डॉ० चन्दनलाल पाराशर; डॉ० धर्मवीर शर्मा, अधीक्षण पुरातत्वविद्, भारतीय पुरातत्व-सर्वेक्षण, आगरा; प्रो० सत्यपाल नारंग, संस्कृत विभागाध्यक्ष, दिल्ली विश्वविद्यालय; डॉ० वृषभ प्रसाद जैन, लखनऊ एवं डॉ० जानकी प्रसाद द्विवेदी, वाराणसी; आगरा विश्वविद्यालय के कुलपति डॉ० जी०के० अग्रवाल; मद्रास हिन्दी शोध संस्थान के पूर्व-निदेशक डॉ० रवीन्द्र कुमार जैन; आदि मनीषीगण उपस्थित थे।

—सम्पादक * *

जैन-इतिहास अब इंटरनेट पर

जैनधर्म और जैनसमाज का गौरवशाली इतिहास अब 'इंटरनेट' के जरिये दुनिया के सामने आ चुका है। <http://jainhistory.faithweb.com> इस स्थान पर उपलब्ध 'जैन हिस्ट्री' इस वेबसाइट पर जैन-इतिहास के बारे में ढेर-सारी अधिकृत-सामग्री दी गई है। इसमें चौबीस तीर्थंकरों के ऐतिहासिक चरित्र, पिछले 2600 वर्षों में हुए अनेक युगप्रवर्तक जैन आचार्यों का चरित्र व कार्य, विभिन्न जैन सम्राटों और राजवंशों का विवरण, जैन साहित्य का इतिहास, आधुनिक काल के महान् जैन-साधुओं और श्रावकों का परिचय, दुनियाभर के जैन इतिहासज्ञ, जैन-शोध-संस्थान, जैन-शोध-पत्रिकायें आदि की एक निर्देशिका उपलब्ध है। इस वेबसाइट के निर्माण में 'कोलोराडो विश्वविद्यालय' के यशवंत

मलैयाजी और 'ब्राह्मी सोसायटी कॅनाडा' के एस०ए० भुवनेंद्र जी ने अहम्-भूमिका निभायी है।

जैन-इतिहासज्ञ अपने शोध-निबंध/रचनायें इस वेबसाइट पर प्रकाशित कर सकते हैं। निबंध/रचनायें अंग्रेजी में होनी चाहिये और उनको वे केवल ईमेल द्वारा ही jainhistory@hotmail.com इस पते पर भेजनी चाहिये—

महावीर सांगलीकर

संपादक, जैन हिस्टरी वेबसाइट

201, मुंबई पुणे मार्ग, चिंचवड पूर्व, पुणे-411019

email: jainhistory@hotmail.com

उच्चशिक्षा हेतु छात्रवृत्तियाँ

देशभर की कई सामाजिक, धार्मिक, सरकारी और अन्य संस्थायें होनहार और जरूरतमंद-छात्रों को उच्चशिक्षा-हेतु छात्रवृत्तियाँ प्रदान करती हैं। छात्रवृत्तियाँ देनेवाली ऐसी प्रमुख-संस्थाओं की एक सूची 'जैन फ्रेण्डस्' नामक संस्था ने पुस्तक रूप में प्रकाशित की है। इस पुस्तक का मूल्य चालीस रुपये है, लेकिन जैन-छात्रों को यह केवल पच्चीस रुपयों में उपलब्ध है। इच्छुक जैन-छात्र निम्नलिखित पते पर मनीऑर्डर द्वारा पच्चीस रुपयों भेजकर यह पुस्तक मंगवा सकते हैं। मनीऑर्डर फार्म के निचले हिस्से पर अपना पूरा पता लिखना आवश्यक है। —जैन फ्रेण्डस्, मुंबई-पूणे मार्ग, चिंचवड पूर्व, पुणे-411019 ***

पत्राचार जैनधर्म-दर्शन एवं संस्कृति सर्टिफिकेट पाठ्यक्रम 2002 में प्रवेश

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी द्वारा संचालित जैनविद्या संस्थान, द्वारा निर्धारित उपर्युक्त पाठ्यक्रम भारत-स्थित उन अध्ययनार्थियों के लिए होगा; जिन्होंने किसी भी विश्वविद्यालय से स्नातक-परीक्षा उत्तीर्ण की है। इसका माध्यम हिन्दी-भाषा होगा। पाठ्यक्रम का सत्र 1 जनवरी, 2002 से 31 दिसम्बर, 2002 तक रहेगा।

—डॉ० कमलचन्द सोगाणी, श्रीमहावीरजी (राज०) ***

पत्राचार अपभ्रंश सर्टिफिकेट पाठ्यक्रम

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी द्वारा संचालित 'अपभ्रंश साहित्य अकादमी' द्वारा 'पत्राचार अपभ्रंश सर्टिफिकेट पाठ्यक्रम' का दसवाँ सत्र 1 जनवरी, 2002 से आरम्भ किया जा रहा है। इसमें हिन्दी एवं प्रान्तीय भाषा विभागों के साथ-साथ अन्य सभी विभागों के अध्यापक, शोधार्थी, अध्ययनरत छात्र एवं संस्थानों में कार्यरत विद्वान् सम्मिलित हो सकेंगे।

—डॉ० कमलचन्द सोगाणी, श्रीमहावीरजी (राज०) ***

प्रो० एस० शेड्टर को 'आचार्य कुन्दकुन्द पुरस्कार' समर्पित

'गाँधी नाथा रंगजी जनमंगल प्रतिष्ठान, सोलापुर (महाराष्ट्र)' द्वारा पूज्य आचार्यश्री विद्यानन्द जी मुनिराज के पावन आशीर्वाद से प्रवर्तित 'आचार्य कुन्दकुन्द पुरस्कार' सुप्रसिद्ध विचारक एवं अन्वेषक प्रो० एस० शेड्टर (प्रोफेसर, इतिहास एवं पुरातत्त्व, कर्नाटक

विश्वविद्यालय, धारवाड़) को भव्य समारोहपूर्वक सबहुमान समर्पित किया गया। दिनांक 9 सितम्बर, 2001 को सम्पन्न इस कार्यक्रम को मुख्य अतिथि पूर्व लोकसभाध्यक्ष मा० शिवराज पाटिल थे। इस पुरस्कार के अन्तर्गत एक लाख रुपयों की मानधनराशि के साथ-साथ रजतोत्कीर्ण प्रशस्ति-पत्र, स्मृतिचिह्न, शॉल, श्रीफल आदि समर्पित किये गये। विश्वभर में मृत्यु के प्रकारों, विधियों आदि पर गहन अनुसन्धानपूर्वक अपनी शोधकृति लिखने वाले प्रो० शेटर ने इसमें जैनपरम्परा की समाधिमरणपूर्वक देहत्याग-विधि को सर्वोत्तम आदर्श मरणविधि प्ररूपित किया है। अतः उन्हें 'समाधिज्ञान-विशारद' के मानद विरुद से भी अलंकृत किया गया।

इस सुअवसर पर पूज्य आचार्यश्री के मंगल-प्रवचनों की मराठी में अनूदित कृति 'आनंदधारा' का भी लोकार्पण किया गया। समारोह का सफल संयोजन प्रतिष्ठान के अध्यक्ष श्री शरदचन्द्र गाँधी ने किया। समारोह में पूज्य आचार्यश्री के मंगल आशीर्वचन का ऑडियो टेप भी सुनाया गया।

—सम्पादक *—

'रत्नाकर बैंक' की 71वीं शाखा का शुभारम्भ

दक्षिण भारत के सुविख्यात वाणिज्यिक प्रतिष्ठान 'रत्नाकर बैंक' लिमिटेड की पूर्णतया कंप्यूटराइज्ड 71वीं शाखा राजधानी दिल्ली के व्यस्त व्यापारिक क्षेत्र करोलबाग में दिनांक 10 सितम्बर 2001 को समारोहपूर्वक शुरू हुई। पूज्य आचार्यश्री विद्यानन्द जी मुनिराज ने इस निमित्त दिनांक 9.9.2001 को लिबर्टी छविगृह में आयोजित भव्य समारोह में 'प्राचीन भारत में आर्थिक-चिन्तन' के सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक पक्षों पर विस्तार से प्रकाश डालते हुए इस शाखा के लिए अपना मंगल-आशीर्वाद प्रदान किया।

शुभारम्भ-समारोह में मुख्य-अतिथि साहू रमेश चन्द्र जैन ने दीप-प्रज्वलन-पूर्वक समारोह के विषय में सारगर्भित वक्तव्य दिया। समागत अतिथियों का स्वागत करते हुए बैंक के मुख्य कार्यकारी अधिकारी श्री अनिल पाटिल ने बैंक की गतिविधियों एवं उपलब्धियों का विवरण दिया और बताया कि कर्नाटक, गोवा, महाराष्ट्र एवं गुजरात में इस बैंक की 70 शाखायें शानदार ढंग से कार्य कर रही हैं तथा इसका कुल टर्न-ओवर एक हजार करोड़ रुपयों से अधिक का है।

इस समारोह में प्रो० वाचस्पति उपाध्याय, कुलपति ला०ब०शा०सं० विद्यापीठ, नई दिल्ली ने विषय-प्रवर्तन किया तथा पं० जयकुमार उपाध्ये ने मंगलाचरण किया। इस अवसर पर श्री चक्रेश जैन बिजलीवाले, श्री बर्डे सा० उपायुक्त पुलिस एवं अन्य कई गणमान्य व्यक्ति उपस्थित थे।

—सम्पादक *—

प्राकृतविद्या के स्वत्वाधिकारी एवं प्रकाशक श्री सुरेशचन्द्र जैन, मंत्री, श्री कुन्दकुन्द भारती, 18-बी, स्पेशल इन्स्टीटयूशनल एरिया, नई दिल्ली-110067 द्वारा प्रकाशित; एवं मुद्रक श्री महेन्द्र कुमार जैन द्वारा, पृथा ऑफसेट्स प्रा० लि०, नई दिल्ली-110028 पर मुद्रित।

भारत सरकार पंजीयन संख्या 48869/89

इस अंक के लेखक-लेखिकायें

(स्व०) आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी—भारतीय संस्कृति एवं हिन्दी-साहित्य जगत् के शिरोमणि मनीषियों में अग्रगण्य डॉ० द्विवेदी जी की पुष्पलेखनी से प्रसूत 'आत्मजयी महावीर' नामक विशिष्ट आलेख इस अंक का अलंकरण है।

(स्व०) डॉ० बलदेव उपाध्याय—संस्कृत-साहित्य के बीसवीं शताब्दी के स्वनामधन्य लेखकों में वरिष्ठतम रहे डॉ० उपाध्याय बहुश्रुत विद्वान् थे। इस अंक में प्रकाशित 'भारतीय संस्कृति को तीर्थकर ऋषभदेव की देन' शीर्षक आलेख आपकी लेखनी से प्रसूत है।

आचार्य महाप्रज्ञ—अपने नाम का चरितार्थ करनेवाले आचार्य श्री श्वेताम्बर जैन तेरापन्थ-सम्प्रदाय के प्रमुख हैं। आपकी लेखनी से प्रसूत आलेख 'मांसाहार : एक समीक्षा' —इस अंक को महिमा-मण्डित कर रहा है।

मिश्रीलाल जैन एडवोकेट—अशोकनगर (म०प्र०) के मूलनिवासी आप जैनसाहित्य के क्षेत्र से सुपरिचित हस्ताक्षर हैं। इस अंक के 'मंगलाचरण' के रूप में प्रकाशित 'कुन्दकुन्द वचनामृत' का 'हिन्दी पद्यानुवाद' आपके द्वारा रचित है।

स्थायी पता—पुराना पोस्ट ऑफिस रोड, गुना-473001 (म०प्र०)।

प्राचार्य कुन्दनलाल जैन—दिल्ली के जैन शास्त्रागारों के सूचीकरण में आपका नाम विशेषतः उल्लेखनीय रहा है। आप अच्छे गवेषी लेखक हैं। इस अंक में प्रकाशित 'विदिशा के बड़े जैन मन्दिर के कुछ मूर्ति-लेख' आपकी लेखनी से प्रसूत है।

पता—68, श्रुतकुटी, युधिष्ठिर गली, विश्वास नगर, शाहदरा, दिल्ली-110032

डॉ० देवेन्द्र कुमार शास्त्री—आप जैनदर्शन के साथ-साथ प्राकृत-अपभ्रंश एवं हिंदी भाषाओं के विश्वविख्यात विद्वान् एवं सिद्धहस्त लेखक हैं। पचासों पुस्तकें एवं दो सौ से अधिक शोध निबंध प्रकाशित हो चुके हैं। संप्रति आप भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली में उपनिदेशक (शोध) के पद पर कार्यरत हैं। इस अंक में प्रकाशित 'समयपाहुड : बदलने का दुःसाहस पूर्ण उपक्रम' नामक लेख आपकी लेखनी से प्रसूत है।

स्थायी पता—243, शिक्षक कालोनी, नीमच-458441 (म०प्र०)

विद्यावारिधि डॉ० महेन्द्र सागर प्रचंडिया—आप जैनविद्या के क्षेत्र में सुपरिचित हस्ताक्षर हैं, तथा नियमित रूप से लेखनकार्य करते रहते हैं। इस अंक में प्रकाशित 'श्री सम्मदशिखर अष्टक' नामक कविता के रचयिता आप हैं।

स्थायी पता—मंगल कलश, 394, सर्वोदय नगर, आगरा रोड़, अलीगढ़-202001 (उ०प्र०)

आचार्य राजकुमार जैन—आप जैनदर्शन एवं आयुर्वेद शास्त्र के अच्छे विद्वान् हैं। इस अंक

में प्रकाशित 'ओंकार महामंत्र और उसका प्रभाव' नामक आलेख आपके द्वारा रचित है।

पत्राचार पता—सूरज गंज, दूसरा चौराहा, इटारसी-461111 (म०प्र०)

प्र० प्रेमसुमन जैन—आप मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय में कलासंकाय के अधिष्ठाता एवं प्राकृत के प्रोफेसर हैं। 'प्राकृतविद्या' के 'सम्पादक-मण्डल' के वरिष्ठ सदस्य हैं। इस अंक में प्रकाशित आलेख 'जैनधर्म का तत्त्वचिन्तन : ग्रीक-दार्शनिक प्र० हाजिमे नाकामुरा की दृष्टि में' आपके द्वारा लिखित है।

स्थायी पता—29, विद्याविहार कॉलोनी, उत्तरी सुन्दरवास, उदयपुर-313001 (राज०)।

डॉ० राजेन्द्र कुमार बंसल—आप ओरियंटल पेपर मिल्स, अमलाई में कार्मिक अधिकारी के पद से सेवानिवृत्त हुये, जैनसमाज के अच्छे स्वाध्यायी विद्वान् हैं। इस अंक में प्रकाशित 'प्राकृत-ग्रंथों में जिन-साधुओं का निवास और विहार-चर्या का स्वरूप' शीर्षक आलेख आपकी लेखनी से प्रसूत है।

पत्राचार-पता—बी०-369, ओ०पी०एम० कालोनी, अमलाई-484117 (उ०प्र०)

डॉ० उदयचंद जैन—सम्प्रति सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर (राज०) में प्राकृत विभाग के अध्यक्ष हैं। प्राकृतभाषा एवं व्याकरण के विश्रुत विद्वान् एवं सिद्धहस्त प्राकृत कवि हैं।

इस अंक में प्रकाशित 'छक्खंडागमसुत्त : की 'ध्वला' टीका के प्रथम पुस्तक के अनेकार्थ-शब्द' शीर्षक की आलेख आपकी लेखनी से प्रसूत है।

स्थायी पता—पिऊकुंज, अरविन्द नगर, ग्लास फैक्ट्री चौराहा, उदयपुर-313001 (राज०)

डॉ० रवीन्द्र कुमार वशिष्ठ—दिल्ली विश्वविद्यालय में उपाचार्य (रीडर) पद पर सुशोभित डॉ० वशिष्ठ भारतीय लिपियों के गहन अनुसन्धाता एवं अधिकारी विद्वान् हैं। इस अंक में प्रकाशित 'ब्राह्मी लिपि और जैन-परम्परा' शीर्षक आलेख आपके द्वारा लिखित है।

स्थायी पता—बी०वी 77बी० (पूर्वी), शालीमार बाग, दिल्ली-110088।

डॉ० (श्रीमती) माया जैन—आप जैनदर्शन की अच्छी विदुषी हैं। इस अंक में प्रकाशित 'शब्द-स्वरूप एवं ध्वनि-विज्ञान' शीर्षक आलेख आपकी लेखनी से प्रसूत है।

स्थायी पता—पिऊकुंज, अरविन्द नगर, ग्लास फैक्ट्री चौराहा, उदयपुर-313001 (राज०)

डॉ० सुदीप जैन—श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली में 'प्राकृतभाषा विभाग' में उपाचार्य एवं विभागाध्यक्ष हैं। तथा प्राकृतभाषा पाठ्यक्रम के संयोजक भी हैं। अनेकों पुस्तकों के लेखक, सम्पादक। प्रस्तुत पत्रिका के 'मानद सम्पादक'। इस अंक में प्रकाशित 'सम्पादकीय', के अतिरिक्त 'दक्षिण भारत में सम्राट् चन्द्रगुप्त से पूर्व भी जैनधर्म का प्रचार-प्रसार था' शीर्षक आलेख आपके द्वारा लिखित है।

स्थायी पता—बी-32, छत्तरपुर एक्सटेंशन, नंदा फार्म के पीछे, नई दिल्ली-110030

डॉ० जिनेन्द्र कुमार जैन—आप जैनविश्व भारती संस्थान (मानित विश्वविद्यालय), लाड़नूँ (राज०) में प्राकृतभाषा के 'व्याख्याता' हैं। इस अंक में प्रकाशित आलेख 'जैन आगम-साहित्य में प्रतिपादित श्रमणों के मूलगुण' आपकी लेखनी से प्रसूत है।

पत्राचार पता—लेक्चरर्स क्वार्टर्स, जैनविश्व भारती संस्थान परिसर, लाड़नूँ (नागौर) राज०।



प्रो० एस० शेक्टर को 'गाँधीनाथा रंगजी जनमंगल प्रतिष्ठान, सोलापुर' (महाराष्ट्र) के प्रतिष्ठित 'आचार्य कुन्दकुन्द पुरस्कार' के समर्पण-समारोह (दिनांक 9 सितम्बर 2001) की भव्य झलकियाँ



पूर्व लोकसभाध्यक्ष मा० शिवराज पाटिल जी प्रो० शेक्टर को प्रशस्ति-प्रदान करते हुए। साथ में हैं (बायें से दायें) श्री शरदचंद्र गाँधी, डॉ० निर्मलकुमार फड़कुले, श्री चंकेश्वरा, श्रीमती शेक्टर एवं डॉ० सी० जे० दोशी



पुरस्कार ग्रहण करने के बाद आने उद्गार व्यक्त करते हुए प्रो० शेक्टर। मंचासीन हैं (बायें से दायें) डॉ० निर्मलकुमार फड़कुले, श्री शरदचंद्र गाँधी, एवं मा० शिवराज पाटिल जी।

HELPFUL TO NEEDFUL

अर्थात् 'जरूरतमंदों के लिए मददगार' के आदर्शवाक्य के साथ विगत 59 वर्षों से देशभर में सेवारत यशस्वी वाणिज्यिक प्रतिष्ठान

दि रत्नाकर बैंक लि.

की आधुनिकतम सुविधा सम्पन्न ब्रांच का

राजधानी दिल्ली

के

प्रमुख व्यावसायिक केन्द्र-स्थल

'करोलबाग' में

दिनांक 10 सितम्बर 2001 को 71वीं शाखा का शुभारम्भ हुआ।

पता : 17-ए/53, डब्ल्यू०ई०ए०, गुरुद्वारा रोड
(जस्साराम हस्पताल के सामने), करोलबाग,
नई दिल्ली-110005

विशेष :— नवम्बर के प्रथम सप्ताह से A.T.M. की सुविधा भी प्रारंभ होगी

सम्पर्क माध्यम :—

फोन : 91-11-573 0452

टेलीफैक्स : 91-11-573 0451

टेलीबैंकिंग : 91-11-573 0453